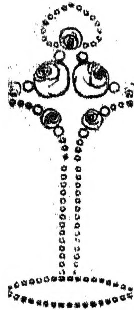
मनोविज्ञान

तथा

अपराध-निरोध



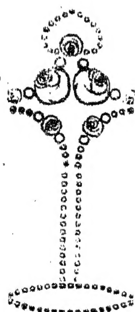
उमानाथ पाण्डेय

एम० ए०, एम० एड०

मनोविज्ञान

तथा

अपराध-निरोध



उमानाथ पाण्डेय

एम० ए०, एम० एड०

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक विशेषतः पुलिस ट्रेनिंग कालेज के शिक्षार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखी गई है, यद्यपि अपराध-विज्ञान में जिज्ञासा रखने वाले सभी प्रारम्भिक विद्यार्थी इससे लाभ उठा सकते हैं। इधर कई वर्षों से पुलिस ट्रेनिंग कालेज, मुरादाबाद के शिक्षार्थियों के पाठ्य-क्रम में मनोविज्ञान तथा अपराध-विज्ञान का विषय भी सम्मिलित कर लिया गया है, परन्तु इस विषय पर कोई भी उपयुक्त पाठ्य-पुस्तक नहीं थी। इस अभाव के अनुभव ने तथा छात्रों के अनुरोध ने इस पुस्तक की रचना को प्रेरणा प्रदान की।

पुस्तक में विषय का प्रतिपादन अत्यन्त सरल तथा सुबोध शैली में किया गया है। उचित तथा परिचित उदाहरणों द्वारा विषय की व्याख्या की गई है। अध्यायों का क्रम इस प्रकार रक्खा गया है कि सम्पूर्ण विषय सूत्र-बद्ध हो जाय। पारिभाषिक एवं क्लिष्ट हिंदी के शब्दों के पर्याय अंग्रेजी भाषा में दे दिये गये हैं। प्रत्येक अध्याय के अन्त में उपयोगी प्रश्नों के द्वारा छात्रों के अध्ययन का पथ-प्रदर्शन किया गया है। लेखक को पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक उन छात्रों की आवश्यकता की पूर्ति करेगी, जिनके लिये यह लिखी गई है।

विजय-दशमी, २०११ वि०
७ अक्तूबर, १९५४ ई०

उमानाथ पाण्डेय

विषय-सूची



अध्याय १

मनोविज्ञान का पुलिस कार्य से सम्बन्ध

मनोविज्ञान का पुलिस कार्य से क्या सम्बन्ध है ? इसे ठीक ठीक समझने के लिए यह आवश्यक है कि पहले मनोविज्ञान के स्वरूप की व्याख्या की जाय और यह देखा जाय कि ऐसा कौन सा सम्मिलित क्षेत्र है जिससे मनोविज्ञान और पुलिस दोनों का सम्बन्ध है और किस प्रकार उस क्षेत्र में मनोविज्ञान के सिद्धान्त पुलिस कार्य को सफल बनाने में सहायता पहुंचाते हैं ।

मनोविज्ञान का वर्तमान स्वरूपः--प्राचीन समय में मनोविज्ञान को आत्मा का अध्ययन (Study of soul) कहा जाता था । मनोविज्ञान का यह स्वरूप केवल आध्यात्मशास्त्र तथा दर्शन शास्त्र से ही सम्बन्धित था । इस प्रकार का ज्ञान अत्यन्त व्यक्तिगत (Subjective) होने के कारण व्यापकता के साथ जीवन को सफल बनाने में प्रयुक्त नहीं हो सकता था तथा इस प्रकार के मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को प्रयोग (Experiment) की कसौटी पर भी कसना कठिन था। इस प्रकार मनोविज्ञान का

स्वरूप बराबर बदलता रहा और वह अब पहले की भांति सूक्ष्म, जटिल तथा व्यक्तिगत न रह कर अधिक व्यवहारिक तथा प्रायोगिक (Objective) हो गया है। हम अब उसके सिद्धांतों को जीवन के अनेक क्षेत्रों में प्रयोग में लाते हैं। मनोविज्ञान के प्रयोगों ने शिक्षा तथा उद्योग इत्यादि की कार्य-प्रणालियों में व्यापक तथा आमूल परिवर्तन कर दिये हैं तथा उनसे सम्बन्धित अलग मनोविज्ञान की शाखायें भी बन गई हैं जैसे शिक्षा-मनोविज्ञान (Educational Psychology) और उद्योग-मनोविज्ञान (Industrial Psychology)। व्यक्ति के लिए उचित धन्धों के चुनाव में वोकेशनल (Vocational) मनोविज्ञान प्रशंसनीय तथा अत्यन्त उपयोगी कार्य कर रहा है।

आज का मनोविज्ञान मनुष्य के चेतन तथा अचेतन मन की क्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करता है जो उसके व्यवहार को प्रतिक्षण संचालित करती रहती हैं। वर्तमान मनोविज्ञान प्रायोगिक इसलिये है कि वह व्यवहार के अध्ययन द्वारा ही मन की क्रियायों को जानने का प्रयत्न करता है। मानसिक क्रियायों में सोचना, सीखना, प्रेम करना, ईष्या करना, कल्पना करना, तर्क करना, निर्णय करना, स्मरण करना इत्यादि सभी क्रियायें आ जाती हैं और हम देखते हैं ये सब मानसिक क्रियायें किस प्रकार हमारे दैनिक जीवन को प्रभावित करती रहती हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मनोविज्ञान मनुष्य के

व्यवहारों के कारणों का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। मनोविज्ञान का यह स्वरूप पुलिस के लिये उपयोगी है।

मनोविज्ञान का पुलिस कार्य से सम्बन्धः--मनोविज्ञान व्यवहार के मानसिक कारणों से सम्बन्ध रखता है। वह बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सभी के व्यवहार का अध्ययन करके उसके कारणों का पता लगाता है, परन्तु उसे व्यवहार के औचित्य तथा अनौचित्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। पुलिस कर्मचारी के कार्य का सम्बन्ध प्रधानतया व्यक्तियों के उस व्यवहार से है जो समाज के सामान्य आदर्श से नीचा है अथवा जो कानून द्वारा वर्जित है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान तथा पुलिस कर्मचारी दोनों का कार्य-क्षेत्र मनुष्य का व्यवहार है। अतः मनोविज्ञान मनुष्य के व्यवहार सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है यदि उनका प्रयोग पुलिस कर्मचारी अपने कार्य में करे तो अवश्य ही वह अपने कार्य को अपने लिये अत्यन्त सरल और समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी बना सकता है।

पुलिस के कार्य को मुख्यतया तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। पुलिस का पहला काम अपराधों की रोकथाम करना होता है अर्थात् वह ऐसी सावधानियाँ काम में लाती है कि अपराध हो ही न सके। उसका दूसरा काम किये गये अपराधों के प्रति अन्वेषण होता है अर्थात् ठीक अपराधी का पता लगाकर उसे दंडित कराना रहता है। तीसरा कार्य सुधार तथा शोध से

संवन्धित होता है अर्थात् उसे अपने कर्त्तव्यों में यह भी सम्मिलित कर लेना चाहिए कि जो व्यक्ति एक दफ़ा दंडित होकर कारागृह चला जाय वहां से निकलने पर पुनः अपराध न करे। अब हमें यहाँ पर यह देखना है कि मनोविज्ञान का ज्ञान पुलिस के इन तीनों कामों को अधिक सफलता के साथ करने में कहाँ तक सहायता पहुँचाता है।

अपराध की रोकथामः--अपराध व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों होते हैं। उनके रोकने के लिए व्यक्ति और समूह दोनों की मनोवृत्ति को ठीक ठीक समझना अत्यन्त आवश्यक होता है। कौन सा व्यक्ति किस प्रकार के चाल चलन का है इसे जानने के लिये उसके व्यक्तित्व के प्रकार (Personality type) को पहचानना नितान्त आवश्यक है। व्यक्ति को ठीक ठीक समझने में उसके विचारों, भावों तथा उसके व्यक्तित्व के प्रकार को ठीक ठीक जानने में हमें वैयक्तिक मनोविज्ञान (Individual (Psychology) वहुत अधिक सहायता पहुँचा सकता है (देखिए अध्याय १०)। समूह में किस प्रकार एक साथ विचार करने, इच्छा करने तथा कार्य करने की क्षमता होती है और समूह किस प्रकार सुसंगठित होकर समाज-हितैषी अथवा समाज-विरोधी कार्य कर सकता है, इस विषय का उचित ज्ञान हमें समूह-मनोविज्ञान (Group Psychology) तथा सामाजिक मनोविज्ञान (Social Psychology) से ही प्राप्त हो सकता है (देखिए अध्याय १२)।

किसी व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों तथा संवेगों को विकसित करने तथा उनमें उचित परिवर्तन लाने के लिये किस प्रकार परम्परा और वातावरण सहायक होते हैं तथा किस प्रकार उसके लिये हम दमन, विलयन तथा मार्गान्तरीकरण इत्यादि विधियाँ प्रयोग में लाते हैं (देखिए अध्याय ७)। इन सब बातों की उचित व्याख्या हमें मनोविज्ञान में ही मिलती है। पुलिस का एक मात्र आदर्श यह है कि अपराध होने ही न पावे। ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि इस पवित्र आदर्श की प्राप्ति में पुलिस को मनोविज्ञान बहुत ही उपयोगी सहायता पहुँचाता है।

अपराध-अन्वेषण-कार्य—जब कोई व्यक्ति अपराध करता है तो प्रायः उसे छिपाने का प्रयत्न करता है, वह यह कभी नहीं कहता है कि मैंने अमुक अपराध किया है और मैं दण्ड का भागी हूँ। इस छिपाव के कारण पुलिस का अन्वेषण कार्य बहुत ही कठिन हो जाता है। पुलिस जब किसी अपराधी का बयान लेती है तो वह छिपाव से परिपूर्ण रहता है। उसे उस छिपाव के पर्दे को हटाकर तथ्य तक पहुंचना पड़ता है, मनोविज्ञान की जानकारी पुलिस कर्मचारी को वह आँखें प्रदान कर सकती है जिनसे वह तुरन्त उस छिपाव के पर्दे के भीतर की बातें देख लेगा। जब कोई पुलिस कर्मचारी किसी हल्के में अन्वेषण-कार्य करता है तो उसे यह भी समझने का प्रयत्न करना पड़ता है कि कौन सा व्यक्ति सत्य सूचना दे सकता है और कौन सा व्यक्ति उसे बहका

कर अथवा असली अपराधी से उसका ध्यान हटाकर अन्य निरपराध व्यक्तियों पर दोषारोपण कराना चाहता है। इन सब बातों के लिए उसे व्यक्तियों की परख होनी चाहिए। यह स्पष्ट है कि इस कार्य में मनोविज्ञान ही उसका उचित पथ-प्रदर्शन कर सकता है। तथ्य तक पहुँचने में प्राप्त बयानों में आवश्यक का ग्रहण तथा अनावश्यक का त्याग करना पड़ता है, इस चयन कार्य में मनोविज्ञान बड़ी सहायता दे सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपराधी के पता लगाने में दूसरे व्यक्तियों को ठीक ठीक समझना अत्यन्त आवश्यक है और दूसरों को समझने के लिये मनोविज्ञान ही एक अचूक साधन है। ठीक अपराधी का पता लगाने के पश्चात् उसे दंडित भी कराना पुलिस का प्रधान कार्य है। इस कार्य में सफलता तभी हो सकती है जब ठीक और सच्चे साक्षी मिल जाँय। सच्चे साक्षियों की प्राप्ति के लिये सुराग-रसी में जनता का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। जनता का ऐच्छिक सहयोग प्राप्त करने के लिए अपने कार्य की सिद्धि में उनका नेता बनने के लिए पुलिस कर्मचारी को मनोविज्ञान का जानना जरूरी है, जिससे जनता उसके निर्देश पर अपराध-अन्वेषण कार्य में सक्रिय सहयोग दे सके।

सुधार तथा शोध-कार्य—जिस प्रकार यह आवश्यक है कि कोई अपराधी ही न बने, उसी प्रकार यह भी आवश्यक है कि यदि कोई व्यक्ति अपराध करके दंडित होकर कारावास की अवधि

को पूरा करके समाज में पुनः प्रवेश करे तो वह पुनः अपराध की आवृत्ति न करे। कारावास से वह व्यक्ति एक सुधारा हुआ उपयोगी नागरिक बन कर निकले। यदि कारावास से निकला हुआ व्यक्ति पुनः अपराध करता है तो अपराधों की संख्या बढ़ती ही जायेगी और पुलिस के लिए अपराध-निरोध का कार्य दुष्कर हो जायगा। पुलिस का यह कार्य जेल विभाग के अन्तर्गत है, यद्यपि यह सुधार कार्य भी पुलिस के कार्य का एक महत्व पूर्ण अंग है, केवल कार्य की सुविधा के लिए एक अलग विभाग कर दिया गया है। पुलिस कभी भी अपने आदर्श को नहीं प्राप्त कर सकती है, यदि जेल विभाग के द्वारा कैदियों का सुधार तथा उनके व्यक्तित्व का पुर्नसंस्थापन (Readjustment of Personality)न हो। अंग्रेजी में एक कहावत है जिसका तात्पर्य यह है कि हमें अपराध से घृणा होनी चाहिये न कि अपराधी से। जेल विभाग अपने आदर्श से च्युत होता है, यदि वह घृणा भाव से अथवा बदले या क्रोध की भावना से अपराधी को जेल में कष्ट देता है और उसके आत्म-सम्मान को नष्ट करने का प्रयत्न करता है। जेल द्वारा अनुचित व्यवहार होने के कारण कारावास से छूटा हुआ व्यक्ति भयंकर समाज-विरोधी होकर अपराधियों का उत्पादक बन जाता है। इस विषय की उचित जानकारी मनोविज्ञान द्वारा ही प्राप्त होती है। अपराध का कारण कभी कभी केवल वातावरण-गत ही न होकर मनोवैज्ञानिक भी होता है अर्थात् अपराध का कारण भावनाग्रन्थियां भी होती हैं, जिनका

अस्तित्व अचेतन मस्तिष्क में होता है। इन भावना-ग्रन्थियों को दूर करने में मनोवैज्ञानिक की सहायता अत्यन्त आवश्यक है। कारावास में दंडित अपराधी की पूर्व जीवन-वृत्ति का विलयन करके उसकी मनोवृत्तियों का मार्गान्तरीकरण करना होता है, इस कार्य को भी मनोविज्ञान वेत्ता ही अच्छी प्रकार कर सकता है।

कुछ समय पहले पर्याप्त संख्या में अपराधियों के अपराध को परम्परागत समझ कर उनके सुधार के प्रति नितान्त अवहेलना की जाती थी यहां तक कुछ अपराधी जातियाँ (Criminal Tribes) भी घोषित कर दी गई थीं। परन्तु अब यह धारणा नहीं है। वर्तमान प्रजातन्त्रात्मक सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति का महत्व तो और भी बढ़ गया है। हम किसी भी व्यक्ति को समाज हित के कार्य के लिए खोना नहीं पसन्द करते हैं। अपराधी व्यक्ति के व्यक्तित्व का पुनर्संस्थापन करके उसे भी हम प्रभाव-पूर्ण और उपयोगी नागरिक बनाना चाहते हैं। अतः इस सुधार कार्य को सफलता पूर्वक चलाने में मनोविज्ञान ही उचित पथ-प्रदर्शन कर सकता है।

ऊपर दिये गए विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपराध के निरोध, अपराध के अन्वेषण तथा अपराधी के मार्गान्तरीकरण तीनों प्रकार के कार्यों को सफलता पूर्वक कुशलता के साथ पूरा करने के लिए प्रत्येक पुलिस कर्मचारी को मनोविज्ञान जानना अत्यन्त आवश्यक है। इसी मान्यता के आधार पर आजकल

पुलिस ट्रेनिंग कालेजों में मनोविज्ञान का विषय दीक्षा के पाठ्य-क्रम में सम्मिलित कर लिया गया है।

प्रश्न

१—पुलिस कर्मचारी के लिए मनोविज्ञान जानना क्यों आवश्यक है ?

२—मनोविज्ञान की सहायता से अपराध की रोक थाम तथा उसके अन्वेषण के कार्य को हम अधिक सफलतापूर्वक किस प्रकार कर सकते हैं ?

———

अध्याय २

मन का स्वरूप

(Concept of Mind)

आगे आने वाले अध्यायों के विवरण को हम ठीक ठीक समझ सकें इसके लिये हमें आवश्यक है कि मन की विशेषताओं तथा उसकी प्रधान शक्तियों के विषय में कुछ जानकारी करलें। मन के स्वरूप के विषय में अनेक मत हैं। पाठकों को उसके झमेले में यहाँ पर न फँसा कर केवल मन के विषय में उन मोटी मोटी बातों का उल्लेख किया जायगा जिन्हें बहुत से मनोविज्ञान-वेत्ता किसी न किसी रूप में मानते हैं तथा प्रत्येक सामान्य पुरुष को जो मनोविज्ञान में जिज्ञासा रखता है जानना चाहिये। मन तथा शरीर, चेतन तथा भौतिक के भेद तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में तात्विक विवेचन के लिये न तो स्थान है और न उनसे संबंधित भिन्न भिन्न सम्प्रदाओं के विषय में जानना मनोविज्ञान के सामान्य-ज्ञान के लिये आवश्यक ही है।

(क) मन का अस्तित्व

चरम व्यवहार वादियों (Extreme Behaviourists) का कहना है कि मन जैसी कोई वस्तु का मानना आवश्यक नहीं है, उनका विश्वास है कि प्रत्येक प्राणी का आचरण एक भौतिक कारण की प्रतिक्रिया मात्र है, वे मनुष्य को एक जटिल मशीन समझते और कहते हैं कि यदि हम भौतिक विज्ञान को पूर्णयता जान जाएँ तो प्राणी के प्रत्येक व्यवहार की भौतिक विज्ञान द्वारा व्याख्या कर सकते हैं। वे मनुष्य के व्यवहार को यांत्रिक समझते हैं और सिद्धान्त के रूप से जड़वादी-मनोविज्ञान (Mechanistic Psychology) का प्रतिपादन करते हैं। परन्तु अधिकतर मनोविज्ञान वेत्ता इस सिद्धांत को ठीक नहीं मानते हैं उनका कहना है कि छोटे से छोटे प्राणी का व्यवहार यांत्रिक नहीं कहा जा सकता है, उनमें केवल मात्रा का ही भेद नहीं वरन् प्रकार का भी भेद है। अतः प्राणी को एक जटिल यन्त्र कहना नितान्त भूल है। प्राणी के व्यवहार में और मशीन में भेद इसलिए है कि प्राणी में मन है और मशीन में नहीं, भले ही मन की परिभाषा या स्वरूप के विषय में मतभेद हो। इस मन की उपस्थिति के कारण ही प्रत्येक प्राणी के व्यवहार में निम्न विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, जिसके कारण उसके व्यवहार की व्याख्या मशीन की भांति भौतिक सिद्धान्तों से नहीं कर सकते हैं—

मनकी उपस्थिति के कारण प्राणी में एक इकाई (unity)

दृष्टिगोचर होती है वह बहुत से भागों का समूह मात्र नहीं है। प्रत्येक भाग यह जानता है कि अन्य भाग क्या कर रहे हैं, प्राणी जीवकोष्ठों का समूह ही नहीं वरन् उनसे कुछ अधिक है। मशीन के भागों में यह चेतनता नहीं है। मन के कारण प्राणियों का व्यवहार पूर्णतया वाह्य परिस्थिति का गुलाम नहीं है। मशीन एक विशेष प्रकार की वाह्य प्रेरणा पर एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया करेगी, जैसे यदि मोटर में पेट्रोल इत्यादि भर कर उसे स्टार्ट किया जाय तो सदा उसी भांति चलेगी, परन्तु प्राणी का व्यवहार इस प्रकार निश्चित नहीं होता है, जैसे प्राणी भयानक वस्तु के उपस्थित होने पर भाग भी सकता है अथवा मुकाविला भी कर सकता है।

प्रेरक—शक्ति के समाप्त होते ही यांत्रिक क्रिया रुक जाती है, परन्तु प्राणी में उसके पूर्व भी रुक सकती है तथा उसके बाद तक चल सकती है, जैसे यदि एक विशेष शक्ति से हम क्रिकेट के गेंद को मारते हैं तो शक्ति समाप्त होते ही गेंद रुक जायगा। यदि किसी वालक की सौतेली माँ कोई अपशब्द कह देती है तो उस शव्द का भौतिक प्रभाव (अर्थात् गूंज) समाप्त होने पर भी वरसों तक उस वालक के आचरण को प्रभावित कर सकता है। इसका कारण केवल एक मात्र यही है कि मनुष्य में मन है और गेंद में नहीं।

प्राणियों का व्यवहार स्वचालित एवं स्वप्रेरित है। मशीन दूसरे के द्वारा चलाई जाती है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि

प्राणी अपने स्वभाव के नियमों का उल्लंघन करके कार्य करता है। परन्तु यह आवश्यक है कि वह अपनी प्रेरणा से अपने व्यवहार में परिवर्तन करता रहता है जैसे यह प्रसिद्ध है कि घोड़े को हम तालाब तक ले जा सकते हैं परन्तु उसे पानी पीने के लिए मजबूर नहीं कर सकते हैं।

मन के कारण ही प्राणी के आचरण में एक विशेषता यह है कि पूर्व अनुभव के आधार पर वह अपने भविष्य के व्यवहार में परिवर्तन करता जाता है जैसे कहा गया है कि दूध का जला हुआ मट्ठा भी फूंक फूंक कर पीता है। यही नहीं वह भावी परिस्थिति का सामना करने के लिए पहिले से इन्तजाम करने लगता है जैसे दुश्मन की आशंका से हम पहले से ही उसका मुकाबला करने का इन्तजाम कर लेते हैं। यह अनुभव ही सजीव प्राणी को जड़ पदार्थ से भिन्नता तथा उच्चता प्रदान करता है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि चेतन व्यवहार और जड़ पदार्थ की क्रिया में मौलिक भेद है। इसी कारण प्राणियों में हम एक अदृश्य शक्ति की कल्पना करते है जिसको हम मन की शक्ति कहते हैं यही शक्ति चेतन व्यवहार को उद्देश्य-पूर्ण (Purposive) और आत्म-प्रेरित (Spontaneous) बनाती है।

पुलिस कर्मचारी को यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि अपराधी एक सजीव और प्रतिक्रिया-पूर्ण व्यक्ति है। समाज

तथा उसके व्यवहार का उसके ऊपर कितना उचित तथा अनुचित स्थायी प्रभाव पड़ सकता है। उसका व्यवहार एक जटिल मशीन की क्रिया से भी कहीं अधिक जटिल तथा कठिनता से समझा जाने योग्य है। उसके ऊपरी व्यवहार का कारण उसके मन की गहराई में पाया जाता है।

(ख) मन का स्वरूप

मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने मन के अस्तित्व को किसी न किसी रूप में अवश्य माना है और उसी के द्वारा प्राणी के व्यवहार की व्याख्या की है और यह भी कह सकते हैं कि प्राणियों के व्यवहार के द्वारा मन के स्वरूप की जानकारी हुई है। जब हम मन के स्वरूप का अध्ययन करते हैं तो हमें उसके दो पक्ष स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं एक है मन का गठन (Mental Structure) जिसे संस्कार (Disposition) भी कहते हैं, दूसरा है मन की क्रिया (Mental function) जिसे **अनुभव** इत्यादि के नाम से पुकारते हैं। हमारा सोचना, विचारना, स्मरण करना और इच्छा करना यह सब अनुभव करना ही कहा जायगा। अनुभव ही हर एक प्राणी का विशेष गुण है जो उसे जड़ पदार्थों से भिन्न करता है तथा उसे महत्व प्रदान करता है। अनुभव की विचित्रता के कारण ही मनुष्य भी अध्ययन का विषय बनता जाता है और मनोविज्ञान के सिद्धान्तों की सृष्टि होती जाती है।

मन का गठन—जब हमारे सामने सुस्वादु भोजन उपस्थित होता है तो प्रायः हमारे मुँह में पानी आ जाता है तथा उसे खाने की इच्छा चलने लगती है, हरी हरी लहलहाती घास देखकर ऐसा नहीं होता है। इस सब कार्य का संचालन मन के द्वारा ही होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारे मन में ऐसा कोई जन्मजात या अर्जित संस्कार अवश्य है जो हमें विशेष परि-स्थिति में विशेष क्रिया के लिए प्रेरित करता है। इसके अतिरिक्त आपने यह भी देखा होगा कि हम जो कोई भी अनुभव करते हैं उसे हम अपने भविष्य के कार्यों में प्रयोग में लाते है इससे भी यह सिद्ध होता है मन का कोई पक्ष अवश्य है जो हमारे अनुभवों अथवा अर्जित गुणों को एकत्रित रखता है। ऊपर दिए गए तर्क से यह भी सिद्ध होता है कि मन का ऐसा कोई पक्ष अवश्य है जो हमारी मनकी क्रियाओं का प्रेरक है अथवा आधार है जो संस्कार रूप में हमारे पास रहता है इसी संस्कार को हम मन का गठन (Structure) या आकार करते हैं, जो मानसिक क्रिया के लिए आधार का काम करता है। इस गठन का रूप क्या है इस संबन्ध में मतभेद है। भौतिकवादी अथवा व्यवहारवादी (Behaviourists) उसे मष्तिष्क का ही पर्याय कहेंगे परन्तु प्रयोजनवादी (Purposivists) उसे मष्तिष्क से ऊपर की चीज़ कहेंगे, जिसकी सत्ता भौतिकसत्ता से ऊपर सूक्ष्म है। परन्तु मनोविज्ञान-वेत्ता मन की गठन जैसी सत्ता को अवश्य ही किसी न किसी रूप में अवश्य मानते हैं तथा

यह भी मानते हैं कि मन के आकार (Structure) में वृद्धि भी हुआ करती है।

मन का क्रियात्मक पक्ष (Mental functioning)

प्राणी परम्परा से कुछ न कुछ संस्कार अवश्य लाता है जिसके आधार पर उसके पैदा होते ही उसे कुछ न कुछ मानसिक क्रिया के लिए प्रेरणा मिलने लगती है, जैसे बच्चे के पैदा होते ही उसके मन के अन्दर मां का स्तन ढूँढ़कर अपनी क्षुधा तृप्ति के लिए इच्छा होने लगती है, किसी धड़ाके के शब्द को सुनकर भय तथा कष्ट का अनुभव होने लगता है। ये सब मानसिक क्रियायें अथवा अनुभव यह सिद्ध करते हैं कि मन केवल एक स्थिर तथा निष्क्रिय तत्व नहीं वरन् क्रियाशील रहता है। ज्यों ज्यों अनुभव होने लगता है हम अपने भविष्य के अनुभव को अधिक समृद्ध तथा जटिल करते जाते हैं इससे यह सिद्ध होता है कि हमारे अनुभवों में अथवा हमारे मन के क्रियात्मक पक्ष में परिवर्तन भी हुआ करता है, यह तत्व ही हमारे मानव विकास का कारण है।

प्रत्येक अनुभव में तीन पक्ष होते हैं परन्तु किसी अनुभव में कोई एक पक्ष प्रधान होता है और किसी में दूसरा। इन तीनों पक्षों को ज्ञानात्मक, रागात्मक और क्रियात्मक नाम से पुकारते हैं। उदाहरण के रूप में यदि हमारा मित्र हमारे सामने उपस्थित होता है तो हमारा सर्व प्रथम अनुभव उसे पहचानने का होता

है। इस मानसिक क्रिया में ज्ञानात्मक पक्ष की प्रधानता है। जब हम उसे पहचान कर प्रसन्न होते, हैं तो इस मानसिक क्रिया अथवा अनुभव में रागात्मक पक्ष की प्रधानता है। और जब हम उसे आलिंगन करने की इच्छा करते हैं, तो हमारे अनुभव में क्रियात्मक पक्ष की प्रधानता हो जाती है। इस प्रकार हम अपने प्रत्यक्ष-ज्ञान (Perception), स्मरण, कल्पना, तर्क तथा निर्णय इत्यादि के अनुभवों में ज्ञानात्मक पक्ष की प्रधानता देखते हैं। संवेग, स्थायीभाव तथा सहानुभूति इत्यादि की मानसिक क्रियायों में भावात्मक अथवा रागात्मक पक्ष की प्रधानता पाते हैं और मूल प्रवृत्तियों की प्रेरणा तथा आदत इत्यादि में क्रियात्मक पक्ष की प्रधानता पाते हैं। हमारे अनुभव अथवा मानसिक क्रिया में जिस पक्ष की प्रधानता होगी, उसी प्रकार हमारे व्यवहार में भी परिवर्तन हो जायगा। यह आपने प्रायः देखा होगा कि जब हम तर्क इत्यादि करते हैं तब प्रायः अपने व्यवहार में शीघ्रता नहीं करते हैं, सोच विचार कर कर्म करते हैं। परन्तु जब हम किसी संवेग या भावना के वशीभूत होते हैं तब शीघ्र ही कार्य कर डालते हैं, उसका क्या नतीजा होगा इस पर अधिक दृष्टि नहीं जाती है। इसी प्रकार जब हम किसी अन्तः प्रेरणा से प्रभावित हैं, तो हमारे कार्य में विशेष शक्ति आ जाती है और हम उसे बड़ी दृढ़ता के साथ पूरा करते हैं। पुलिस के कर्मचारी को अपराध के अन्वेषण तथा नियन्त्रण में इन सब बातों का ध्यान रखना पड़ता है।

मन की प्रधान शक्तियाँ

ऊपर के विवरण में इस पर ज़ोर दिया गया है कि मन की क्रिया यन्त्र के समान नहीं है, उसकी प्रत्येक क्रिया किसी न किसी अपने प्रयोजन से संचालित होती है उसकी प्रत्येक नई क्रिया में पूर्वानुभवों से प्राप्त ज्ञान का लाभ उठा लिया जाता है और उसके कामों में कोई संबद्धता या क्रम अवश्य होता है। इस प्रकार प्राणी का व्यवहार यन्त्र से भिन्न होता है, उसका कारण यह है कि प्राणी के मन में कुछ मुख्य शक्तियाँ होती हैं अथवा मन की क्रिया में कुछ प्रधान विशेषताएँ होती हैं, इन्हीं शक्तियों के कारण हमारे मन का विकास होता रहता है और हमारे व्यवहार में भी आवश्यकतानुसार परिवर्तन होता रहता है। यदि किसी व्यक्ति का व्यवहार अविकसित है अथवा आदर्श से गिरा हुआ है तो हमें निराश होने की आवश्यकता नही है, हम प्रयत्न द्वारा उसे उचित पथ पर ला सकते हैं। हमारे प्रयत्न में सफलता होने की आशा इसलिए है कि मन में वे शक्तियाँ गर्भित हैं जो उसे विकास की ओर उन्मुख कर सकती है उन्हें हम निम्न नाम से पुकारते हैं:—

(१) संचय शक्ति (Mneme)

(२) सप्रयोजनता (Horme)

(३) सम्बद्धता (Cohesion)

संचय-शक्ति—जब हम कोई अनुभव करते हैं तो उसका संस्कार अथवा प्रभाव पड़ा करता है और वह हमारे मन में किसी न किसी प्रकार संचित रहता है। मन की जिस शक्ति द्वारा यह हमारे अनुभव मन में संचित होते हैं उसे हम मन की संचय-शक्ति कहते हैं। यदि हमारे मन में हमारे पूर्व अनुभव संस्कार रूप में संचित न होते, तो हम किसी को एक बार या कई बार देखकर भी पहचान न सकते। इस शक्ति के कारण ही हम किसी नई बात के सीखने में हम अपने पहले प्रयत्न की अपेक्षा दूसरे प्रयत्न में कुछ सुधार कर लेते हैं। स्मरण भी इसी मन की संचय शक्ति के कारण ही सम्भव है। यदि हमारे मन में यह शक्ति न होती तो हम अपने पूर्व अनुभव से कोई लाभ न उठा सकते और हमारा विकास रुक जाता। अपराधी को दंड इसीलिए देते हैं कि दण्ड के कटु अनुभव से वह अपराध करना छोड़ दे। इसी प्रकार यदि हम अपराध की रोकथाम में पर्याप्त सतर्क नही रहेंगे तो अपराधी को अपराध करने में सफलता मिलेगी और वह अपने कार्य में अधिक कुशल हो जायगा। कृत अपराधों के अनुभव के संचय होने के कारण वह अपराधी अपने कार्य में अधिक चतुर हो जाता है, जिससे पुलिस को अपने अन्वेषण कार्य में पर्याप्त कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

सप्रयोजनता—यह मन की दूसरी प्रधान विशेषता है। मशीन की क्रिया में उसका कोई अपना उद्देश्य नही, वह केवल

अपने चलाने वाले के उद्देश्य को पूरा करती करती है। आटा की चक्की इसलिए चलाई जाती है कि उसके मालिक को आटा पीसना है। परन्तु प्राणियों का व्यवहार एक चेतन व्यवहार है उसका कोई न कोई अपना उद्देश्य अवश्य होता है चाहे प्राणी की ज्ञात चेतना में वह उद्देश्य स्पष्ट हो या न हो। जब हम किसी चीज़ को बनाते हैं तो उसका कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है। यदि व्यक्ति दूसरे के उद्देश्य से अथवा आदेश से कार्य करता है तो भी वह उसके उद्देश्य को अपने उद्देश्य में परिवर्तन कर लेता है। यदि कोई व्यक्ति किसी डर से कोई कार्य करता है तो वह आत्मरक्षा की दृष्टि से अथवा आदेश-कर्त्ता के क्रोध से बचने के कारण उस कार्य को करता है, यह कभी नही समझना चाहिये कि आदेश पालन करने वाले का कोई अपना उद्देश्य नहीं होता है। इसीलिए हम देखते हैं कि यदि हम आदेश को ठीक ढंग से नहीं देते हैं तो प्रायः उसका पालन ठीक ठीक नहीं होता है, क्योंकि आदेशकर्त्ता और आदेश पालन करने वाले दोनों के उद्देश्यों में साम्य नहीं हो पाया है। कभी कभी तो हम अपना उद्देश्य दूसरे प्राणी पर लाद भी नहीं सकते हैं, इसके लिए अंग्रेजी में एक कहावत बहुत प्रसिद्ध है कि हम घोड़े को तालाब तक लेजा सकते हैं परन्तु उसे पानी पीने के लिए बाध्य नहीं कर सकते हैं, यही बात मनुष्यों के लिए भी चरितार्थ हो सकती है।

संबद्धता—मन की तीसरी प्रधान शक्ति यह है कि अनुभव

के द्वारा जो संस्कार हमारे मन में पड़ते हैं वे कूड़ा घर के समान असम्बद्ध नहीं इकट्ठा होते हैं, वरन् मन कुछ नियमों के आधार पर उन्हें श्रेणीबद्ध करता रहता है। यही कारण हमें आवश्यकता पड़ने पर एक ढंग के सब अनुभव हमारे स्मरण में आने लगते हैं। मन में अनुभव अक्रम रूप से नहीं संचित होते हैं। आपने प्रायः देखा होगा कि जब हम किसी व्यक्ति की दयालुता पर विचार करते हैं, तो उसकी दानशीलता पर भी हमारा ध्यान जाता है, क्योंकि हमारे मन में उस व्यक्ति के दोनों प्रकार के कामों का सम्बन्ध स्थापित हो गया है। इसी प्रकार जब हम किसी स्थान पर जाते हैं तो उस स्थान पर भिन्न भिन्न समय में होने वाली घटनाएँ हमें याद आ जाती है, इसका कारण यह है कि हमारे मन में उस स्थान से संबंधित जितने भी मुख्य मुख्य अनुभव हैं वे आपस में संबधित हो गए हैं।

प्रश्न

१—चेतन व्यवहार तथा यान्त्रिक क्रिया में क्या अन्तर है ?

२—मनुष्य में मन है, इससे उसके व्यवहार में क्या विशेषताएँ आ जाती हैं ?

३—मन की निम्न प्रधान शक्तियों की व्याख्या कीजिएः—

(क) संचय शक्ति (ख) सप्रयोजनता की शक्ति

(ग) सम्द्धवता की शक्ति

४—अनुभव किसे कहते हैं, अनुभव में कौन कौन से पक्ष होते हैं, उदाहरण देकर समझाओ।

अध्याय ३

परम्परा तथा वातावरण

(Heredity and Environment)

पिछले अध्याय में इस बात पर विचार हो चुका है कि हमारे मन की क्या विशेषताएँ है, जिनके आधार पर हमारा व्यवहार जड़ पदार्थों की क्रिया से भिन्न प्रतीत होता है। अब यहाँ पर यह विचारणीय है कि मन के अन्दर जो गुण अथवा विशेषताएँ पाई जाती वे परम्परा से प्राप्त होती हैं अथवा वातावरण के द्वारा उत्पन्न होती हैं, दूसरे शब्दों में बच्चे का मन अपनी जन्म-जात गर्भित शक्ति के कारण जो अंकुर रूप में पहले से ही विद्यमान रहती है, विकास को प्राप्त होता है अथवा बच्चे का मन कोरी स्लेट की तरह होता है और वातावरण के द्वारा ही सब संस्कार मन के अन्दर बनते है। इस विषय में तीन मत हैं। एक विचार धारा के लोग परम्परा को अधिक महत्व देते हैं; उनका कहना है कि बच्चे का भविष्य जन्म से ही निश्चित होकर आता है और हम उसमें अपने प्रयत्न से कोई विशेष महत्व-पूर्ण परि-

वर्तन नहीं कर सकते हैं। दूसरे मत के मानने वाले कहते हैं कि बच्चे का विकास प्रधानतया वातावरण पर ही निर्भर है, हम अपने प्रयत्न से बच्चे को जैसा चाहे वैसा बना दें। तीसरे प्रकार के विद्वान समन्वयवादी हैं; उनका कहना है परम्परा और वातावरण दोनों का बच्चे के विकास में उचित महत्व है, और दोनों का सम्मिलित प्रभाव पड़ता है। दोनों के अच्छे होने पर ही बच्चे का विकास उचित प्रकार का हो सकता है। बच्चे के विकास में परम्परा तथा वातावरण का कितना अंश है, इसे ठीक ठीक समझने के लिये यह आवश्यक है कि परम्परा या वातावरण को महत्व देने वालों के मतों तथा अन्वेषणों पर अलग अलग विचार कर लिया जाय।

परम्परा का महत्व

परम्परा को अधिक महत्व देने वाले विचारकों का कहना है कि जैसे माता पिता होंगे वैसे ही उनके बच्चे होंगे। बच्चा पैदा होकर कैसा होगा, यह गर्भाधान के समय ही जब कि माता पिता के रज-वीर्य का संमिश्रण होता है, निश्चित हो जाता है, उसके विकास की क्षमता उसी समय तय हो जाती है। उनकी दृष्टि में वातावरण केवल विकास में कठिनाई अथवा सरलता पैदा कर सकता है और बच्चा जितनी प्रतिभा तथा गर्भित शक्ति अपने साथ लाता है, उसी के अनुसार वह विकसित होगा। इसीलिए यह देखा गया है कि जो बच्चा परम्परा से अपने साथ

अधिक बुद्धि तथा विकास की क्षमता लाता है, वह साधारण वातावरण के होने पर भी महत्वपूर्ण विकास को प्राप्त होता है। परन्तु जो जन्म से ही मन्द बुद्धि लेकर उत्पन्न होता है वह अनुकूल वातावरण के होने पर भी सामान्य विकास को नहीं प्राप्त कर पाता है।

उपरोक्त मत के प्रचारको में गाल्टन और विजमैन के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। इस मत की सत्यता प्रकट करने के लिये परम्परा को महत्व देने वाले विचारकों ने कुछ प्रयोग भी किये है, उनमें से कुछ का यहां पर उल्लेख कर देना अधिक उपयुक्त होगा।

गाल्टन (Galton) ने ६७७ सुप्रसिद्ध व्यक्तियों की जीवनी का अध्ययन किया था। ४००० व्यक्तियों में जो सर्व श्रेष्ठ व्यक्ति था उसी को उसने सुप्रसिद्ध व्यक्ति की श्रेणी में रक्खा था। इन व्यक्तियों के अध्ययन के आधार पर गाल्टन ने एक पुस्तक लिखी है जिसका नाम हेरीडिटरी जीनियस (Hereditary Genius) है, उसमें उसने यह सिद्ध किया है कि इन सुप्रसिद्ध व्यक्तियों में बहुतों के निकट रक्त-सम्बन्धी भी सुप्रसिद्ध व्यक्ति थे, जब कि सामान्य व्यक्तियों के निकट रक्त-संबन्धी इससे बहुत कम अनुपात में सुप्रसिद्ध व्यक्ति निकलते हैं। गाल्टन की खोज से यह पता निकला कि उन ६७७ व्यक्तियों के निकट रक्त-संबन्धियों के ८९ पिता, ११४ भाई, १२९ पुत्र,

५२ पितामह, ३७ पौत्र, ५३ चचा और ६१ भतीजे उन्हीं के समान सुप्रसिद्ध थे।

गाल्टन ने जुड़वा बच्चों के जीवनका अध्ययन करके यह सिद्ध किया कि उनकी आकृति, बुद्धि तथा व्यवहार में आश्चर्य-जनक समानता थी जैसा कि एक कम्पनी के निकाले गये यन्त्रों में होती है। उसने यह दिखाया है कि जुड़वा बच्चों के व्यवहार की समानता का एक मात्र कारण उनकी परम्परा की समानता ही है।

परम्परा के प्रभाव का अध्ययन करने के लिये कुछ अपराधी तथा अप्रसिद्ध परिवारों का अध्ययन किया गया है। डग्डेल और स्टेब्रुक दो विद्वानों ने जूक्स परिवार का अध्ययन किया। जूक्स अमेरिका का रहने वाला और माँझी जाति का था। इसका चरित्र बहुत ही भ्रष्ट था। इसका विवाह भी वैसी ही दुराचारिणी स्त्री से हुआ था। अतः इस वंश में जो व्यक्ति हुए उनमें अधिक-तर दुराचारी अथवा अपराधी घोषित हुये। इस कुल के २८२० व्यक्तियों में ३६६ भिखारी, १७१ को जेल की सजा मिली और १० खूनी थे। ४५८ को स्कूल के अपराधों में सजा मिली अथवा स्कूल से निकाल दिये गये। २८५ पागल थे और २७७ दुराचारी थे। १६६ व्यक्ति अनपढ़ थे। केवल ३५० व्यक्ति सामान्य थे और उन्होंने उचित जीविका-वृत्ति से जीवन व्यतीत किया। इस उदाहरण से परम्परा या वंशानुक्रम का महत्व सिद्ध होता है।

मार्टिन कालीकाक नाम का एक सामान्य आदमी था, उसने दो स्त्रियों से शादी की। एक स्त्री मंद बुद्धि की थी और दूसरी सामान्य बुद्धि की थी। मन्द बुद्धि की स्त्री द्वारा जो वंश चला उसमें ४८० वंशजों का अध्ययन किया गया; उसमें से अधिकतर (१४३) हीन बुद्धि के और अन्य शराबी, मिरगी के मरीज, वेश्यायें, अपराधी तथा निन्दित निकले, केवल ४६ व्यक्ति सामान्य कहे जा सकते थे। औसत बुद्धि वाली स्त्री से जो वंश चला उसमें ४९६ व्यक्तियों का अध्ययन किया गया उसमें केवल पाँच व्यक्ति ही औसत से गिरे हुये निकले और शेष औसत श्रेणी के व्यक्ति थे।

वंशानुक्रम को महत्व देने वालों ने पशुओं पर जो प्रयोग किये हैं, उसमें भी परम्परा के महत्व को ही प्रधानता दी है। ऊपर दी गई खोजों से यह सिद्ध किया गया है कि परम्परा का महत्व मनुष्य के विकास में बहुत अधिक होता है। अब यहाँ पर यह भी जानना आवश्यक है कि किन नियमों के आधार पर परम्परा हमारे ऊपर प्रभाव डालती है वे नियम निम्नलिखित हैं—

(1) अविच्छेद बीज-कोष
(Continuity of germ plasm)

(2) अर्जित गुणों का अवितरण
(Non-transmission of acquired traits)

(3) रूपान्तर का नियम

(Law of variation)

(4) मुख्य प्रकार की ओर प्रतिगमन

(Regression to Type)

अविच्छेद बीज-कोष—परम्परा का पहला नियम यह है कि पिता के शुक्र तथा माता के अण्ड में एक प्रकार के कोष रहते हैं जिन्हें बीज-कोष (Germ cell) कहेंगे, इन्हीं में उत्पादन शक्ति रहती है, कुछ लोग इन्हें उत्पादक कोष भी कहते हैं। यह बीज कोष ही सन्तान की उत्पत्ति करता है, बच्चे के शरीर इत्यादि की वृद्धि करके भी यह बच्चे में नष्ट नहीं होता है। वरन् जब बच्चा बड़ा होकर स्वयं पिता बनता है तो वह अपनी सन्तान में इसी बीज-कोष को अपरिवर्तित रूप में डाल देता है। इस प्रकार यह बीज-कोष एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में चला करता है। धरोहर की तरह यह बीज-कोष एक सन्तान द्वारा दूसरी सन्तान को प्रदान कर दिया जाता है। यही कारण है एक वंश के लोगों में समानता पाई जाती है।

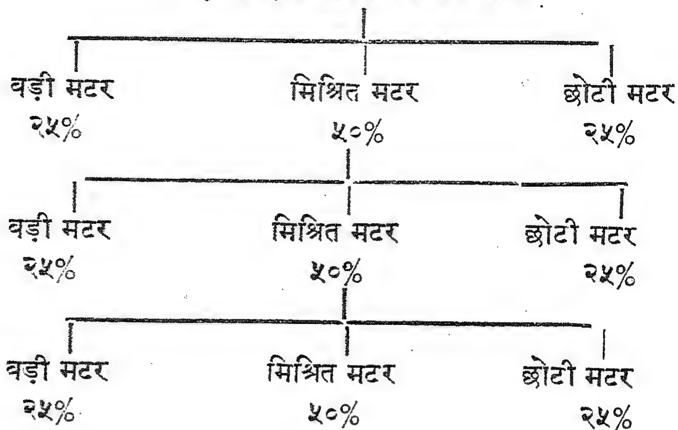
अर्जित गुणों का अवितरण--बीज-कोष में जितने गुण विद्यमान रहते हैं वे सन्तान में अवश्य पहुँचते हैं; परन्तु पिता के अर्जित गुण सन्तान में नहीं पहुँचते हैं। जैसे यदि माता पिता किसी कारणवश अपने जीवन में लंगड़े लूले हो जायं तो बच्चे लंगड़े लूले नहीं होंगे। इस प्रकार माता पिता द्वारा जो

गुण दोष तथा अपराध इत्यादि अर्जित होते हैं वे सन्तान को परम्परा के रूप में नहीं प्राप्त होते हैं। यदि पुत्र पिता के सद्गुणों को वंशानुक्रम द्वारा नहीं पाता है तो यह भी अच्छा है क्योंकि उसके दुर्गुण भी पुत्र को वंशानुक्रम से नहीं प्राप्त होते हैं। यह नियम विजमैन द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इसे सिद्ध करने के लिये उसने कुछ चूहों की दुम काट कर उनसे सन्तान उत्पत्ति की और फिर उन सन्तानों की दुम काटकर फिर उनसे भी सन्तानोत्पत्ति कराई, इस प्रकार अपने प्रयोग की आवृति उन चूहों की पचीस पीढ़ियों तक किया। परन्तु प्रत्येक पीढ़ी की सन्तान दुम लेकर ही पैदा हुई। इस प्रकार इस तथ्य की पुष्टि हुई कि माता पिता के अर्जित गुण सन्तान को परम्परा से नहीं मिलते हैं।

रुपान्तर का नियमः—हम देखते हैं कि हमारी परम्परा में कभी कभी रुपान्तर भी हो जाता है, इसका कारण डारविन यह देते हैं कि हम जिन अङ्गों का प्रयोग नहीं करते हैं वे बहुत समय के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं। उदाहरण के रूप में मनुष्य का पूर्वज पहले बन्दर था, दुम का प्रयोग न करने से अब इस रूप में आ गया है। लेमार्क का कथन है कि जिराफ की गर्दन इसलिये बढ़ गई कि उसे पत्ती खाने के लिये प्रयास करना पड़ता है, इससे यह सिद्ध होता है कि परिस्थिति से मुकाबला करने के लिये यदि हम इच्छा शक्ति का प्रयोग करें, तो हम अपना रुपान्तर कर सकते हैं। रुपान्तर के नियम से ऊँट के पैर भी ऐसे होने लगे कि

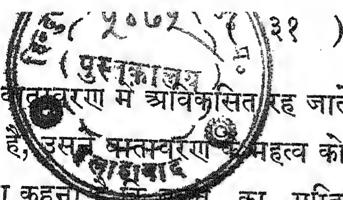
रेत में धस न सकें। बकरी का मुँह नुकीला इसलिये होता है कि वह कटीली झाड़ियों से पत्ती चुन सके, कदाचित उसका मुँह इससे पहले कुछ भिन्न रहा हो, जबकि उसकी परिस्थिति इससे भिन्न रही हो। यह रुपान्तर बहुत समय के पश्चात् परम्परा का अंग हो जाता है।

मुख्य प्रकार की ओर प्रतिगमनः—वंशानुक्रम के अनुसार जो गुण विकसित होते हैं, उनमें से कुछ सामान्य होते हैं और कुछ विलक्षण। परम्परा का यह नियम है कि वह विलक्षणता को कम करती है और सामान्यता की वृद्धि करती है। यही कारण है कि आपको जनता में औसत बुद्धि के व्यक्ति अधिक मिलेंगे। जो लोग अधिक प्रतिभावान या कुशाग्रबुद्धि के होते है उनकी सन्तानें कुछ पीढ़ियों के पश्चात् सामान्य बुद्धि की हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि वंशानुक्रम सामान्यता की ओर सबको घसीटता है। मेन्डल ने इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिये छोटी और बड़ी मटर के संयोग से वर्णसंकर मटर की उत्पत्ति की। कुछ पीढ़ियों के पश्चात् यह हुआ कि वर्ण संकर मटर नष्टप्राय होती गई और मटर या तो बड़ी रह गई या छोटी; क्योंकि दोनों अलग अलग सामान्य श्रेणी की हैं। नीचे दिए गए चित्र में इस सिद्धान्त की पुष्टि की गई हैः—



इस प्रकार हम देखते हैं कि वड़ी मटर से बड़ी मटर छोटी से छोटी तो होती है; परन्तु मिश्रित मटर भी बराबर हर पीढ़ी में वड़ी अथवा छोटी में बदलती जाती है। मिश्रित मटर जो विलक्षण प्रकार की है, सामान्य श्रेणी की ओर प्रतिगमन करती चली जा रही है। अन्त में उसके स्थान पर केवल सामान्य श्रेणी ही रह जायगी।

वातावरण का महत्वः—बच्चे के विकास में वातावरण को अधिक महत्व देने वाले विचारकों का कहना कि है हम उचित वातावरण देकर बच्चे को जैसा चाहे वैसा बना सकते हैं। सामान्य बुद्धि के वालकों को जब उन्नत वातावरण मिल जाता है, तो वे उन्नति शील हो जाते हैं और तीव्र बुद्धि के बालक भी



हीन वातावरण में अविकसित रह जाते हैं। एक विचारक लॉक हुआ है, उसने वातावरण के महत्व को बहुत ऊपर उठा दिया है। उसका कहना है कि बच्चे का मस्तिष्क कोरी स्लेट की तरह होता है और हम उस पर जो चाहें लिख सकते हैं अर्थात् उसका विकास अपनी मन चाही दिशा में कर सकते हैं।

हेलवेसियस भी वातावरण को प्रमुख स्थान देता है। उसका भी यही विचार है कि हम उत्तम वातावरण देकर बच्चे का उत्तम विकास कर सकते हैं और हीन वातावरण प्रदान करके उसके विकास को क्षति पहुँचा सकते हैं। उसकी दृष्टि में दो व्यक्तियों में जो भिन्नता दिखाई देती है वह वंशानुक्रम की भिन्नता के कारण नहीं वरन् वातावरण की भिन्नता के कारण है।

कैंडोल का भी विचार इसी प्रकार का है कि विकास में वातावरण का ही प्रधान हाथ है। जिस प्रकार गाल्टन ने सुप्रसिद्ध व्यक्तियों के इतिवृत द्वारा यह सिद्ध किया है कि अच्छी वंश-परम्परा के कारण ही वे इतने सुप्रसिद्ध हो सके न कि अच्छे वातावरण के कारण। उसी प्रकार कैंडोल ने ५५२ प्रसिद्ध विद्वानों की जीवनियों को लेकर यह सिद्ध किया है वे उत्तम वातावरण के कारण अच्छे विद्वान तथा सुप्रसिद्ध बन सके, जब कि उनकी वंश परम्परा नितान्त सामान्य थी।

इस मत के प्रतिपादन के लिये ऐसे बच्चों के उदाहरण भी

दिये जाते हैं जिनको भेडिये उठा ले गये थे; परन्तु १३ या १४ वर्ष के पश्चात् वे भेडियों के मांदों से जिन्दा प्राप्त किये गये और उन्हें उचित वातावरण प्रदान किया गया, परन्तु उनका व्यवहार पशुवत् ही रहा। कुछ तो उसमें दो पैरों के वल चलना भी न सीख सके, मानव-भाषा का प्रयोग तो दूर की बात रही। इससे यह सिद्ध होता है कि वातावरण ही विकास में मुख्य स्थान रखता है।

कुछ जीव-विज्ञान के वेत्ताओं ने मछली पर प्रयोग करके वातावरण के प्रभाव की तीव्रता को सिद्ध किया है। मछली के अंडों के विकसित होने का नैसर्गिक वातावरण जल है, परन्तु उसके अन्डों को जब उसमें आंखों का निर्माण प्रारम्भ हो रहा था बर्फ के सन्दूक में रखने से या तो आंखों का निर्माण समुचित नही हुआ या एक ही आँख विकसित हो पाई। अंडे का विकास जब जल में होता है, तब दोनों आंखें ठीक से विकसित होती है। इससे सिद्ध होता है कि भिन्नता का प्रधान कारण वातावरण का अन्तर है न कि वंशानुक्रम की भिन्नता।

समन्वयवादियों का मतः—कुछ विचारकों का मत है कि किसी व्यक्ति के विकास में वंशानुक्रम या वातावरण में किसी एक को अधिक महत्व देना नितांत भूल है। जिस प्रकार किसी पौधे के ठीक से उगने में बीज या अच्छी जमीन में से किसी एक को अधिक महत्व देना अनुचित है। उनका कहना है

कि वास्तव में किसी व्यक्ति का विकास परम्परा और वातावरण का सम्मिलित परिणाम है। प्रायः किसी व्यक्ति के विकास में वंशानुक्रम और वातावरण के प्रभाव को अलग अलग करना या पहचानना अत्यन्त कठिन होता है। हां यदि दो व्यक्ति एक ही वातावरण में पले हैं और दोनों के व्यक्तित्व में अन्तर है तो उसे वंश-परम्परा के कारण ही समझना चाहिये। परम्परा और वातावरण के महत्व के विषय में समन्वयवाद ही एक संतुलित दृष्टिकोण है, क्योंकि यह कौन नहीं जानता है कि अच्छा बीज ऊसर में किसी प्रकार पूर्ण विकास को नहीं प्राप्त हो सकता है और खराब बीज उत्तम भूमि और खाद के उपलब्ध होने पर भी ठीक से नहीं उगेगा। एक उत्कृष्ट बुद्धि का भी बालक हीन वातावरण में अविकसित रह जाता है और मन्द बुद्धि के बालक को चाहे जितना उत्तम वातावरण उपस्थित करें वह एक सीमा से अधिक विकसित नही किया जा सकता है। असली तथ्य यह है कि वंशानुक्रम एक मूल शक्ति प्रदान करता है और वातावरण उसे उचित विकास प्रदान करता है। वुडवर्थ महोदय ने वंश परम्परा और वातावरण के सम्मिलित प्रभाव को गणित का एक बहुत अच्छा उदाहरण देकर सिद्ध किया है। उनका कहना है कि व्यक्ति परम्परा और वातावरण का योग नहीं है वरन वह परम्परा और वातावरण का गुणनफल है। परम्परा यदि विकास रूपी आयत का आधार है तो वातावरण उसका लम्ब। आधार और लम्ब में यदि किसी एक का नितान्त अभाव होगा तो आयत का कोई

अस्तित्व न रहेगा। आयत का कुछ क्षेत्रफल हो इसके लिये यह आवश्यक है कि आधार और लम्ब दोनों समुचित मात्रा में हो। यदि आधार पर्याप्त हुआ और लम्ब कम हुआ तो क्षेत्रफल भी कम होगा। इसी प्रकार यदि लम्ब पर्याप्त हुआ और आधार कम हुआ तो भी क्षेत्रफल कम होगा। इससे यह सिद्ध होता है कि व्यक्ति के विकास में परम्परा और वातावरण दोनों का उचित स्थान है, उनमें से किसी एक को अधिक महत्व देना, चरम दृष्टि-कोण (extreme view) अपनाना है।

अपराध का आधारः—अब हमें यहां पर यह भी देख लेना अनुचित न होगा कि अपराध का कारण परम्परा है या वातावरण। पहले यह समझा जाता था कि अपराध परम्परागत हैं, अपराधी का बच्चा अपराधी होगा; इसीलिये कुछ जातियों को अपराधी जातियाँ घोषित कर दिया गया था और यह समझ लिया जाता था कि उनमें से प्रत्येक व्यक्ति अमुक जाति का होने के कारण अवश्य ही पैदायशी अपराधी प्रवृति का होगा। परन्तु अब इस सिद्धान्त में विश्वास नहीं रह गया है। इसका कारण यह है कि अपराध एक अर्जित गुण है; वह बीज-कोष के द्वारा कभी भी सन्तान में अवतरित नहीं हो सकता है। अतः अपराध का प्रधान कारण वातावरण ही है। प्रायः अपराधी के बालक घर के दूषित वातावरण के द्वारा अनुकरण प्रवृत्ति से अपराध सीख लेते हैं। उन्हें अच्छी संगति न मिलने से दूसरी दिशा में विकास

होने की सम्भावना कम हो जाती है। इसलिये यदि हम किसी व्यक्ति की अपराध-वृत्ति को छुड़ाना चाहते हैं, तो सबसे प्रथम उपाय यह होना चाहिये कि उसे दूषित वातावरण से अलग करके अच्छे वातावरण में रख दें। अपराधी के बालकों को यदि अच्छा वातावरण उपलब्ध करदें तो वे भी उपयोगी नागरिक बन सकते हैं। अंग्रेजी शासन के समय में ही हमारे कुछ प्रांतों में अपराधी जातियों के सेटेलमेंट बनाये गये थे, उनका उद्देश्य भी यही था कि वातावरण को उत्तम करके उनमें सुधार किया जाय और यह देखा भी गया है इन सेटेलमेंट में कुछ अपराधियों और उनके बच्चों में प्रयीत सुधार हो गया। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब अपराध का कारण वातावरण है तो वातावरण के सुधार द्वारा हम उसकी रोक थाम अथवा उसे निर्मूल कर सकते हैं।

प्रश्न

१—व्यक्ति के विकास में परम्परा का जो महत्व है उसे उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए। परम्परा जिन नियमों से व्यक्ति को प्रभावित करती है उनकी व्याख्या कीजिए।

२—व्यक्ति के विकास में वातावरण का बहुत कुछ हाथ है, इस कथन की पुष्टि में उदाहरण उपस्थित कीजिए।

३—व्यक्ति के विकास में परम्परा और वातावरण का जो प्रभाव पड़ता है उसकी तुलनात्मक विवेचना कीजिए।

४—अपराधी पैदायशी नहीं होता है वरन बनाया जाता है। इस कथन की विवेचना कीजिए।

अध्याय ४

मूल-प्रवृत्तियाँ

(Instincts)

हम दूसरे अध्याय में मन की तीन प्रधान शक्तियों का जिन्हें संचय, सम्बद्धता तथा संप्रयोजनता कहते हैं, उल्लेख कर आये हैं। इन्हीं के कारण प्राणियों का चेतन व्यवहार अथवा उनके मन की क्रिया, यन्त्र की क्रिया से भिन्न है। ये शक्तियाँ भी प्राणी को परम्परा से मिलती हैं। परन्तु ये शक्तियाँ बहुत ही सामान्य हैं। विकास (Evolution) की क्रिया के कारण अनेक पीढ़ियों के बाद इन तीन प्रधान जन्मजात प्रवत्तियों से कई अन्य विशेष जन्मजात प्रवृत्तियों का विकास हो गया है जो हमारे व्यवहार को मूल रूप में संचालित करती हैं अर्थात् बच्चा पैदा होते ही, बिना सीखे हुये उनके आधार पर अपना व्यवहार प्रारम्भ कर देता है। उदाहरण के रूप में, बच्चे को जन्म से ही भोजन ढूंढ़ने की प्रवृत्ति मिली होती है। तभी तो वह पैदा होते ही माँ के स्तन को ढूँढ़ने लगता है और अपने भूख की तृप्ति करता

है। इसी प्रकार तेज़ आवाज़ को सुनकर हम पैदा होते ही भय-भीत होने लगते हैं। इन सब प्रवृत्तियों को हम मूल प्रवृत्तियाँ कहते हैं, क्योंकि हमारे प्रारम्भिक व्यवहार के मूल में यही प्रवृत्तियाँ कार्य करती हैं अर्थात् इनके द्वारा ही बच्चा मूल रूप में प्रत्येक कार्य के लिये प्रेरणा पाता है और इनके आधार पर ही वह अपना जीवन प्रारम्भ करके अपने आचरण का विकास करता है ।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकडूगल के अनुसार मूल-प्रवृत्ति वह जन्मजात प्रवृत्ति है जिसके कारण प्राणी एक विशेष उत्तेजना (Stimulus) की उपस्थिति को अनुभव करता है और उसके प्रति एक विशेष संवेग का अनुभव करते हुये उस उत्तेजना से सम्बन्धित एक विशेष व्यवहार को करता है। उदाहरण के रूप में जब कोई चूहा बिल्ली को देखता है, तो वह भयभीत होता है और वह अपने को छिपाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि छिपना या भागना चूहे की जन्मजात मूल-प्रवृत्ति है, क्योंकि उसे इसको सीखना नहीं पड़ता है; परन्तु वह हर एक चीज़ को देखकर नहीं छिपता है । बिल्ली या उसके समान प्राणी ही उसे भगाने के लिये उसका एक विशेष विषय है, भय का होना उसका एक विशेष संवेग है और छिपना उसकी विशेष क्रिया है। इस प्रकार भागना या छिपना सब प्राणियों की मूल प्रवृत्ति होती है, परन्तु सबको डराने के लिए एक ही विषय होना आवश्यक नहीं। इसी प्रकार भोजन ढूँढ़ना सबकी मूल-

प्रवृत्ति है परन्तु उत्तेजना भिन्न भिन्न होती है; जैसे बड़ी बड़ी हरी घास को देखकर गाय के मुँह में पानी भर सकता है, परन्तु मनुष्य में ऐसी क्रिया उस घास को देखकर नहीं हो सकती है। जिन घास के तिनकों को हम फेंक देते हैं, उन्हें चिड़ियां उठाकर अपना घोसला बनाती हैं। इन उदाहरणों के लेने से हमारा तात्पर्य है कि हर एक योनि (species) के प्राणियों की मूल-प्रवृत्तियों की उत्तेजनाएँ प्रायः अलग अलग होती हैं और इसी कारण एक ही उत्तेजना उपस्थित होने पर भिन्न भिन्न योनि के प्राणी भिन्न भिन्न व्यवहार करते हैं। मेढक की उपस्थिति साँप के अन्दर भूख की प्रवृत्ति जागृत करती है परन्तु हम उसके प्रति उपेक्षा या घृणा का प्रदर्शन करते हैं।

अब हमें यहां पर यह देखना है कि मनुष्यों में कौन कौन सी मूल-प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। इसके सम्बन्ध में मतभेद है। फ्रायड का कहना है कि मनुष्य में केवल एक ही मूल प्रवृत्ति है जिसे वह काम-प्रवृत्ति (Libido) कहता है; उसके मतानुसार दाम्पत्यप्रेम, माता पिता के प्रति प्रेम, मानव-जाति के प्रति प्रेम, तथा अन्य किसी भी वस्तु से लगाव काम-प्रवृत्ति से ही किसी न किसी रूप में सम्बन्धित है। कुछ लोग केवल आत्म-रक्षा तथा योनि-रक्षा नाम की दो मूल प्रवृत्तियां मानते हैं और कहते हैं कि सभी मूल प्रवृत्तियां इन्हीं के अन्तर्गत आ जाती हैं। थार्नडाइक का कहना है कि हम सभी अपनी मूल-प्रवृत्तियों को दो श्रेणी में रख सकते हैं। एक है व्यक्तिगत और दूसरी है समाजगत।

कर्कपैट्रिक महोदय ने मूल प्रवृत्तियों की संख्या पाँच मानी हैं, जो निम्न प्रकार है:—

१—आत्मरक्षा की प्रवृत्ति
(Self preservation)

२—सन्तानोत्पत्ति की प्रवृत्ति
(Reproduction)

३—सामूहिकता की प्रवृत्ति
(Gregarious-ness)

४—परिस्थिति के अनुकूल बनना
(Adoptative Instinct)

५—आदर्शों के अनुकूल जीवन बनाना
(Regulative Instinct)

बहुत से लोग मैगडूगल के द्वारा प्रतिपादित चौदह मूल-प्रवृत्तियों को मानते हैं, क्योंकि उसका कहना है कि इन सब मूल प्रवृत्तियों का आधार मान लेने से हम मनुष्यों के अधिकाधिक व्यवहार की व्याख्या कर सकते हैं। मैगडूगल का यह कहना है कि हर एक मूल प्रवृत्ति के साथ एक विशेष संवेग का भी अनिवार्य रूप से होना आवश्यक है। उनके अनुसार मूल प्रवृत्तियों तथा उनसे सम्बन्धित संवेगों के नाम नीचे दिये जाते हैं ।

मूल-प्रवृत्ति	संबन्धित सम्वेग
१-भोजन ढूँढ़ना (Food-Seeking)	भूख (Appetite)
२-पलायन (Flight)	भय (Fear)
३-लड़ना (Combat or Pugnacity)	क्रोध (Anger)
४-जिज्ञासा (Curiosity)	आश्चर्य्य (Wonder)
५-रचना प्रवृत्ति (Constructiveness)	रचना का आनन्द (Feeling of creativeness)
६-संग्रह प्रवृत्ति (Hoarding)	स्वामित्व भाव (Possession)
७-विकर्षण (Repulsion)	घृणा (Disgust)
८-शरण में जाना (Appeal)	दुःख (Distress)
९-शिशु-रक्षा (Parental Instinet)	वात्सल्य प्रेम (Love)
१०-काम प्रवृत्ति (Sex)	कामुकता (Lust)
११-सामूहिकता (Gregariousness)	एकाकी भाव (Loneliness)
१२-आत्म प्रकाशन (Self assertion)	आत्माभिमान (Positive self-feeling)
१३-दैन्य (Submissiveness)	आत्महीनता (Negative self-feeling)
१४-हास (Laughter)	आमोद (Amusement)

यदि हम उपरोक्त चौदह मूल प्रवृत्तियों पर विचार करें तो हमें यह ज्ञान हो जायगा कि इनमें से प्रथम आठ मूल-प्रवृत्तियाँ प्रधानतया आत्मरक्षा के लिये हैं और नवीं तथा दसवीं मूल-प्रवृत्तियाँ सन्तानोत्पत्ति तथा जाति-वृद्धि (Propagation of species) के लिये हैं तथा अन्तिम चार मूल प्रवृत्तियाँ सामाजिकता की वृद्धि के लिये हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ये मूल प्रवृत्तियाँ हमें आत्म-रक्षा, जाति-रक्षा तथा समाज-रक्षा के लिये अग्रसर करती रहती हैं।

मूल-प्रवृत्तियों की मुख्य विशेषतायें—

ये जन्मजात होती हैं अर्थात् संस्कार रूप में प्राणी के अन्दर मौजूद रहती और समय पर उदय हो जाती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सब मूल प्रवृत्तियों का उदय एक साथ पैदा होते ही हो जाय, जैसे भोजन की प्रवृत्ति पैदा होते ही उदय हो जाती है; परन्तु रचनाप्रवृत्ति बच्चे में कुछ समय बाद में उदय होती है। जन्म-जात से हमारा तात्पर्य्य यही है कि इन्हें सीखने के लिये प्राणी को कोई ट्रेनिंग नहीं लेनी पड़ती है। समय आने पर प्राणी उन्हें नैसर्गिक रूप में प्रकट करने लगता है।

जो मूल प्रवृत्तियाँ एक व्यक्ति में पाई जाती हैं वह उस योनि (Species) के सभी व्यक्तियों में पाई जायगी। ऐसा नहीं हो सकता है, कि मोहन में यदि रचनावृत्ति पाई जाती है तो सोहन या एडवर्ड में न पाई जाय। हाँ, व्यक्तिगत अथवा लिंगगत

अन्तर हो सकता है। जैसे मोहन में रचनावृत्ति पर्याप्त तीव्र मात्रा में हो और एडवर्ड में उतनी तीव्र न हो। लिंगगत अन्तर से तात्पर्य्य यह है कि कुछ मूल प्रवृत्तियाँ पुरुषों में और कुछ स्त्रियों में अधिक तीव्र होती हैं, जैसे भिड़ने की प्रवृत्ति पुरुषों में अधिक तीव्र होती हैं और भयभीत होने की प्रवृत्ति स्त्रियों में अधिक मात्रा में पाई जाती हैं, परन्तु ऐसा होना अनिवार्य नहीं है।

ये मूल प्रवृत्तियाँ यदि अधिक समय तक प्रयोग में न लाई जायं, तो इनकी शक्ति मन्द पड़ जाती है। इसके अतिरिक्त इनका भी एक जीवन विस्तार (Life span) होता है, अर्थात् प्रारम्भ में कम तीव्र फिर ये अपनी पूर्ण तीव्रता या विकास की दशा में आती है और फिर मन्द हो जाती है। अतः यह आवश्यक होता है कि जब ये तीव्रता पर हों इनका प्रयोग उचित दिशा में कर लिया जाय, नहीं तो एक शक्ति का केन्द्र हमारे लिए बेकार हो जायगा। अँग्रेजी की एक कहावत है जो मूल प्रवृत्तियों के प्रयोग में ठीक ठीक चरितार्थ होती है, 'जब लोहा गरम हो उसी समय चोट लगाना चाहिए (Strike when thc iron is hot)' इस सम्बन्ध में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हमारी मूल प्रवृत्तियों का संस्कार बहुत ही पुरातन है अतः हमारे व्यवहार के संचालन में ये अमोघ-शक्ति का काम देती हैं। इनके द्वारा संचालित कार्य में जो सरलता तथा प्रवाह हमें अनुभव होता है वह अन्य प्रकार के कार्य में नहीं। यह बात दूसरी है कि हम मूल प्रवृत्तियों की शक्ति एवं प्रेरणा को सत्कार्य में प्रयोग

करें या दुष्कार्य में। मनुष्यों की मूल प्रवृत्तियों में और पशुओं की मूल-प्रवृत्तियों में एक प्रधान अन्तर है, कि पशु की मूल प्रवृत्तियाँ अधिक परिवर्तनशील नहीं है; परन्तु मनुष्य की मूल प्रवृत्ति में शिक्षा द्वारा महान परिवर्तन उपस्थित किया जा सकता है। बया नाम की चिड़िया जैसा घोंसला सदियों पहले अपने रचना-प्रवृत्ति के आधार पर बनाती थी अब भी वैसा ही बनाती है, परन्तु मनुष्य ने अपने घर बनाने की रचना प्रवृत्ति में आश्चर्य-जनक परिवर्तन कर लिया है। पहले वह अपने घर के रूप में साधारण झोपड़ी के अतिरिक्त और कुछ नही बना सकता था, परन्तु अब वह अनेक प्रकार के सुन्दर महल बनाता है। यह नही चारित्रिक-दृष्टि से भी उसने अपने मूल प्रवृत्तियों में विकास किया है, पहले वह केवल भयानक जीवों से ही डरता था, परन्तु अब वह बुरे कामों के करने में भी भयभीत होता है; यह भयभीत होने की मूल प्रवृत्ति का महान विकास है। साथ ही साथ वह अपने मूल प्रवृत्ति के प्रकटीकरण में अपराध की ओर भी अग्रसर होता है, जिसका विवरण आगे इसी अध्याय में मिलेगा।

पशुओं की मूल-प्रवृत्तियाँ जन्म से ही विकसित दशा में आती हैं। आपने देखा होगा कि पशु का बच्चा भोजन इत्यादि की प्राप्ति के लिए अधिक समय तक अपने माँ बाप पर निर्भर नहीं रहता है, परन्तु मनुष्य के बच्चे की मूल-प्रवृत्तियां बचपन में अविकसित रहती है। इसी कारण वह बहुत समय तक

असहाय रहता है, परन्तु उसकी इस असहायता में विकास का अंकुर छिपा हुआ है, हम उसकी मूल प्रवृत्तियों का विकास करके उसे पशुता के स्तर से उठाकर मानवता के ही नहीं वरन देवत्व के आचरण-स्तर तक उठा ले जा सकते हैं।

मूल प्रवृत्तियां और मनुष्य का विकासः—

मनुष्य अपना जीवन मूल प्रवृत्तियों की प्रेरणा से प्रारम्भ करता है। उसके प्रत्येक काम में मूल प्रवृत्तियों की ही तृप्ति छिपी है। बच्चे का प्रत्येक कार्य उसकी मूल प्रवृत्तियों का ही नैसर्गिक रूप में प्रकाशन मात्र है; जैसे बच्चा माँ का स्तन ढूँढ़ता है क्योंकि उसे भूख लगी है, माँ का स्तन न पाने से वह क्रोध करता है। उसके क्रोध की जब कोई परवाह नहीं करता तो वह उसे रोकर प्रकट करता है, तब माँ को भी मजबूर होकर उसे अपना स्तन देना पड़ता है, इस इतने कार्य में बच्चे ने (१) भोजन ढूँढ़ना (२) भिड़ना (३) शरण में जाना तीन मूल प्रवृत्तियों को प्रकट किया और माता ने अपने पुत्र-स्नेह की मूल प्रवृत्तियों को प्रकट किया। इस प्रकार बच्चा प्रारम्भ में अपनी मल प्रवृत्तियों की प्रेरणा से कार्य करता है और अपने शरीर और मन का विकास करके उन पर अधिकार पाने की चेष्टा करता है। यदि ध्यान से देखा जाय तो बच्चा सर्वप्रथम अपनी आत्म-रक्षा की मूल प्रवृत्तियों को प्रकट करता है। धीरे २ बाद में वह अपनी सामाजिक मूल प्रवृत्तियों को प्रकट करना आरम्भ कर देता है,

इसलिये बच्चे का प्रारम्भिक जीवन बहुत ही स्वार्थमय रहता है। परन्तु जब बच्चा बड़ा होने लगता है तब समाज अपने नैतिक तथा धार्मिक आदर्शों के द्वारा उसके व्यवहार पर नियंत्रण करना आरम्भ कर देता है। समाज बच्चे की मूल प्रवृत्तियों को केवल उन मार्गों में प्रवाहित होने देना चाहता है, जिन्हें वह अपने दृष्टिकोण से ठीक समझता है, अथवा जो मार्ग समाज की व्यवस्था ठीक रखने के लिये आवश्यक है। इस प्रकार समाज सदैव व्यक्ति पर अपने आदर्शों को आरोपित करता है। जब तक व्यक्ति अपनी मूल प्रवृत्तियों को समाज के नियमों के अनुकूल प्रकट करता है, तब तक व्यक्ति और समाज में कोई संघर्ष नहीं होता है। जब व्यक्ति समाज के नियमों का उलंघन करता है, तब उसका कार्य समाज-विरोधी समझा जाता है। यदि किसी व्यक्ति को उचित-वातावरण मिलता है और उसकी शिक्षा ठीक प्रकार होती है, तो सामान्यतया उसका व्यवहार सामाजिक आदर्शों के अनुकूल ही होता है और उसका जीवन केवल नैसर्गिक (Nature) या पशुवत् न रहकर सामाजिक (Social) हो जाता है। उदाहरण के रूप में हम कुछ मूल-प्रवृत्तियों के सामाजिक विकास को लेते हैं :—

(१) समझदार व्यक्ति अपनी क्षुधा-तृप्ति की मूल-प्रवृत्ति को दूसरे के भोजन को छीन कर नहीं शांत करता है जैसा कि पशु करते हैं, वरन् वह विकास की सीढ़ी में इतना ऊपर चढ़ जाता है कि स्वयं भूखा रहकर अपना भोज्य पदार्थ

आगन्तुक अतिथि को प्रदान कर देता है। (२) भिड़ने की मूल-प्रवृत्ति का प्रकाशन व्यक्ति उचित प्रतियोगिताओं में करता है, जैसे खेल-प्रतियोगिता अथवा कम्पटीटिव परीक्षाएँ। इसके अतिरिक्त यदि वह किसी से भिड़ता भी है, तो आत्मरक्षा की दृष्टि से न कि दूसरे की स्वतंत्रता के अपहरण के लिये (३) मनुष्य में एक मूल-प्रवृत्ति जिज्ञासा होती है, जिसका प्रयोजन नवीनता की खोज होता है, संसार का सारा ज्ञान तथा बड़े बड़े वैज्ञानिक अन्वेषण इसी मूल प्रवृत्ति के प्रकाशन का परिणाम है। जब किसी व्यक्ति की शिक्षा ठीक प्रकार से होती है, तो वह उचित तथा उपयोगी विषयों के प्रति ही अपनी जिज्ञासा को प्रकट करता है। (४) भयानक प्राणियों से पलायन की प्रवृत्ति तो सभी व्यक्तियों में पाई जाती है; परन्तु पूर्ण विकास को प्राप्त व्यक्ति अपनी इस मूल-प्रवृत्ति को दुर्गुणों तथा पाप कर्मों से दूर रहने में प्रकट करता है। (५) उत्तम सामाजिक व्यक्ति अपनी संग्रह प्रवृत्ति को कभी इस प्रकार प्रकट करने का प्रयत्न नहीं करेगा कि उसका संग्रह दूसरे के शोषण में परिवर्तित हो जाय। जब इस मूल-प्रवृत्ति का शोध हो जाता है, तब मनुष्य अपने द्वारा उपार्जित अथवा दूसरे से इकट्ठा की गई धनराशि को समाज-हितैषी संस्थाओं में जैसे औषधालय, अनाथालय विद्यालय, संग्रहालय इत्यादि की स्थापना में व्यय करता है, न कि अपने भोग-विलास में। (६) मनुष्य में आत्मप्रकाशन की मूल-प्रवृत्ति होती है वह उसको अपनी झूठी शान शौकत में भी

प्रकाशित कर सकता है, इसके विपरीत वह किसी समाज का नेता बनकर उसके हित में अपना जीवन बलिदान करके अपनी प्रतिष्ठा को सदा के लिये अमर करके अपनी इस मूल प्रवृत्ति की तृप्ति कर सकता है। इसी प्रकार अन्य मूल प्रवृत्तियों का विकास समाज हितैषी मार्गों में हो सकता है। मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन लाने के लिये कुछ लोगों ने पाँच उपाय बताए हैं (१) दमन (२) विलयन (३) मार्गान्तरीकरण (४) शोध तथा (५) रेचन। इनके द्वारा हम मूल प्रवृत्तियों की गति रोक सकते हैं अथवा उन्हें उचित मार्ग में प्रवाहित कर सकते हैं। इन उपायों का विस्तृत वर्णन संवेगों के स्वतंत्र अध्याय में किया गया है, अतः यहाँ पर केवल नाम ही गिना दिये गए हैं।

मूल-प्रवृत्तियाँ और अपराध:—

हमारी मूल-प्रवृत्तियाँ हमारे व्यवहार के प्रेरित करने में आधारभूत शक्ति का काम देती है उनको उचित मार्ग में प्रयोग करने पर हम एक सभ्य और उपयोगी नागरिक बन जाते हैं; उसी प्रकार यदि उनका प्रयोग अबाध गति से अनुचित मार्ग में हुआ, तो हमारा नैतिक अध:पतन हो जाता है और हमारा व्यवहार अवैध तथा दण्डनीय समझा जाने लगता है। उदाहरण के रूप में हम कुछ मूल-प्रवृत्तियों को लेते हैं जिनका अनुचित प्रकाशन अपराध का कारण बनता है:—

हम अपनी तथा अपने बच्चों की उदर-पूर्ति के लिए अनेक

अपराध करते हैं; जब हम परिश्रम करने पर भी अपना पेट नहीं भर पाते हैं, तो हम चोरी करने लगते हैं अथवा रिश्वत लेने या अन्य घृणित कार्य करने लगते हैं। कभी कभी तो हम अपने शोषण करने वाले की हत्या तक कर डालते हैं। हमारी क्षुधा-तृप्ति हमारे अनेकों अपराधों के लिए प्रेरणा का काम देती है। एक संस्कृत के कवि ने कहा भी है:—

"बुभुक्षितः किं न करोति पापं,
क्षीणाः जनाः निष्करुणा भवन्ति।

अर्थात् भूख का सताया हुआ प्राणी निर्दयी हो जाता है और वह कौनसा पाप नहीं कर सकता है। प्रत्येक सरकार अपने नागरिकों को कुछ न कुछ रोज़गार दिलाने के लिए इसीलिए चिन्तित रहती है कि बेरोज़गार रहकर आदमी अपनी उदर-पूर्ति के लिये अवश्य ही कुछ न कुछ अवैध कार्य करेगा।

क्षुधा-तृप्ति की मूल-प्रवृत्ति के पश्चात् काम-प्रवृत्ति का स्थान आता है, जो अपराध के लिए उत्तरदायी है। क्षुधा-शान्ति के पश्चात् मनुष्य अपनी कामवासना की तृप्ति के लिए अत्यन्त व्यग्र दिखाई देता है। पशुओं में इतनी नैसर्गिक चेतना होती है कि वे अपनी काम वासना की तृप्ति के लिए ऋतु का ध्यान रखते हैं तथा विपरीत लिंग के सजातीय प्राणी को उसकी आवश्यकता का ध्यान रखते हुये चुनते हैं। परन्तु आप मनुष्यों

को इस मूल-प्रवृत्ति के कारण अनेक अपराध करते पायेंगे। कितने पुरुष अनैसर्गिक रूप में काम-वासना की तृप्ति के लिए दंडित किए जाते हैं तथा बलात्कार इत्यादि के अपराध में सजा पाते हैं। काम-वासना की अवैध तृप्ति के सम्बन्ध में किसी के चाकू भोंकना तथा किसी का क़त्ल इत्यादि भी कर डालते हैं। राजपूत राजाओं में अनेक युद्ध कन्या-अपहरण के कारण हुये हैं।

संग्रह-प्रवृत्ति का दुरुपयोग करके भी मनुष्य अनेक अपराध करता है। संग्रह प्रवृत्ति जब तक केवल अपनी अत्यन्त अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकाशित होती है, समाज-विरोधी नहीं सिद्ध होती हैं परन्तु जब मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को अत्यन्त बढ़ाता जाता है और उनके अनुपात में धन का उपार्जन नहीं कर पाता है, तब प्रायः मनुष्य चोरी, डकैती जैसे अपराध करने लगता है; रिश्वत लेना तथा ठगना इत्यादि अपराध भी इस मूल-प्रवृत्ति के कारण होते हैं।

आत्म-प्रकाशन की मूल-प्रवृत्ति भी अनेक अपराधों का कारण बनती है। आत्म-प्रकाशन आत्म-गौरव की रक्षा के कारण होता है, यही आत्म गौरव प्रायः अभिमान तथा अधिकार-भावना के रूप में परिवर्तित हो जाता है। ऐसी दशा में लोग अपनी शान शौकत बढ़ाने के लोभ में अथवा अधिकार प्राप्त करने की तरंग में आकर असली उत्तराधिकारी को क़त्ल करके अथवा ज़हर इत्यादि देकर स्वयं अधिपति बनना चाहते हैं। यदि आप इतिहास के पृष्ठ उठाकर देखें तो आपको ऐसे उदाहरण मिल

जायेंगे जब कि पुत्र ने इस मूल-प्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपने पिता को कैद कर लिया। अलाउद्दीन ने तो अपने हितैषी चचा को इस प्रवृत्ति से प्रेरित होकर कत्ल तक कर दिया था। कितने नेतागण अपने आत्म-गौरव तथा नेतृत्व को स्थिर रखने के लिए जनता तथा राष्ट्र को पथ-भ्रष्ट करके सहस्रों की संख्या में बच्चों को अनाथ तथा सधवा स्त्रियों को विधवा बना देते हैं। हिटलर का उदाहरण इसके लिए उपस्थित किया जा सकता है। आत्माभिमान को रखने के लिए ज़रा ज़रा बातों में साधारण फौजदारी इत्यादि के अपराध तो प्रतिदिन ही हुआ करते हैं।

एक मूल-प्रवृत्ति सामाजिकता अथवा सामूहिकता (Gregariousness) होती है, जो मनुष्य को बाध्य करती है कि वह अकेले न रहकर कुछ व्यक्तियों के साथ रहे। यदि हम अपनी संगति के लिए अच्छे आदमी न चुन सके, तो हमारा पतन अवश्यभावी है। हम बहुत से अपराध बुरी संगति में ही पड़कर करते हैं। हमारे नीति तथा धर्म शास्त्रों में भी सत्संगति की महिमा और कुसंगति की निन्दा खूब की गई है।

ऊपर कुछ मूल-प्रवृत्तियों का उदाहरण देकर यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि किस प्रकार कुछ मूल-प्रवृत्तियाँ अपराध का कारण बनती हैं। इसी प्रकार अन्य मूल-प्रवृत्तियों का उदाहरण लेकर यह दिखाया जा सकता है, कि वे किस प्रकार पथ-भ्रष्ट होने पर समाज के लिए घातक सिद्ध

होती हैं। इन सब मूल-प्रवृत्तियों के उचित विकास (Unfolding) पर ही व्यक्ति तथा समाज का कल्याण निर्भर है। यदि हम चाहते हैं कि व्यक्ति की मूल-प्रवृत्तियाँ अपराध का कारण न बनें तो उनकी प्राकृतिक अथवा नैसर्गिक प्रतिक्रिया (Natural Response) को समाजोचित प्रतिक्रिया (Appropriate Response) में बदल देना चाहिए अर्थात् हमारी मूल-प्रवृत्तियों का नैसर्गिक प्रकाशन अथवा प्रवाह समाज के आदर्श के अनुकूल मार्गों में होना चाहिए।

प्रश्न

१—मूल-प्रवृत्तियाँ किसे कहते हैं। वे हमारे व्यवहार के मूल स्रोत हैं, सिद्ध कीजिये।

२—किस प्रकार मूल-प्रवृत्तियों का उचित विकास हमारे जीवन को उन्नत बनाता है।

३—हमारी मूल-प्रवृत्तियों का अनुचित विकास किस प्रकार अपराध का कारण बनता है, उदाहरण देकर समझाइये।

अध्याय ५

सामान्य-प्रवृत्तियाँ

हम पिछले अध्याय में मैकडूगल द्वारा प्रतिपादित चौदह मूल प्रवृत्तियों का उल्लेख कर आये हैं। मैकडूगल मूल प्रवृत्तियों के अतिरिक्त कुछ अन्य जन्मजात प्रवृत्तियाँ भी मानता है, जिन्हें वह मूल-प्रवृत्तियाँ न कहकर सामान्य प्रवृत्तियां कहता है। वह इन सामान्य प्रवृत्तियों को मूल प्रवृत्तियों से भिन्न इसलिए मानता है, कि इनका विषय तथा संवेग उस प्रकार विशेष नहीं है, जिस प्रकार मूल प्रवृत्तियों का है। उदाहरण के रूप में एक सामान्य प्रवृत्ति 'खेल' होती है, हम किसी वस्तु के साथ खेल सकते हैं, और हम खेल में अनेक प्रकार के संवेगों को प्रकट कर सकते हैं, जैसे क्रोध आश्चर्य, भय, सहानुभूति इत्यादि। इसलिए यह सिद्ध होता है कि सामान्य-प्रवृत्ति में मूल प्रवृत्ति के समान विषय तथा संवेग के सम्बन्ध में विशेषता नहीं है और यही कारण है कि हम उन्हें 'मूल' न कहकर 'सामान्य' कहते हैं। इसके अतिरिक्त इन सामान्य प्रवृत्तियों के द्वारा हमारी मूल प्रवृत्तियों

को भी प्रकाशन मिल जाता है। हमारी सामन्य प्रवृत्तियाँ निम्न हैं:—

(१) निर्देश अथवा संकेत (Suggestion)
(२) सहानुभूति (Sympathy)
(३) अनुकरण (Imitation)
(४) खेल (Play)

निर्देश सहानुभूति तथा अनुकरण की तुलनात्मक परिभाषा:—

हमारी सामूहिकता की मूल-प्रवृत्ति हमें एक समूह बनाने अथवा समाज में एक साथ रहने की प्रेरणा करती है। समाज में हम केवल व्यक्तिगत रूप से ही नहीं रहते हैं वरन् हमें एक सूत्र में बाँधने का कार्य हमारी सामान्य प्रवृत्तियाँ निर्देश, सहानुभूति तथा अनुकरण बहुत हद तक करती है। यह प्रायः देखा जाता है कि हम दूसरे के विचारों, भावों तथा कार्यों की नकल करके अनेकत्व में एकत्व की स्थापना करते हैं। जब कई व्यक्ति के विचारों में एक साम्य उपस्थित हो जाता है तो मानों वे सब व्यक्ति विचार की दृष्टि से एक व्यक्ति के रूप में काम करने लगते हैं, यही बात भाव तथा व्यवहार के विषय में भी सत्य हैं।

जब हम दूसरों के विचारों को बिना किसी तर्क के एक विश्वसनीय ढंग से ग्रहण कर लेते हैं तो जिस प्रवृत्ति के द्वारा ऐसी मानसिक क्रिया सम्भव होती उसे 'निर्देश' कहते हैं। हम

इसी प्रकार दूसरे के भावों की नकल करते हैं, यह मानसिक क्रिया 'सहानुभूति' की प्रवृत्ति के कारण होती है। यह प्रायः देखा गया है कि यदि समाज के कुछ व्यक्ति किसी करुण घटना के कारण दुखी दिखाई पड़ते हैं तो हम सब भी दुःख का अनुभव करते हैं; ऐसा सहानुभूति की प्रवृत्ति के कारण होता है। अनुकरण की सामान्य प्रवृत्ति के कारण ही व्यक्ति दूसरे के कार्यों की नक़ल करता है। जब एक बालक उछलता है तो उसके साथ सब बालक उछलने लगते हैं; इसी प्रकार जब एक गाल बजाता है तो अन्य भी वैसा ही करने लगते हैं। यह सब वे बालक अनुकरण की प्रवृत्ति की प्रेरणा से ही करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्देश में दूसरे के विचारों की नकल होती है, सहानुभूति में दूसरे के भावों की नकल है और अनुकरण में हम अपने तथा अन्य व्यक्तियों के व्यवहार में एक साम्य उपस्थित करते हैं। अतः यह तीनों सामान्य प्रवृत्तियाँ क्रमशः समाज के भिन्न भिन्न प्राणियों में विचार, भाव तथा व्यवहार में साम्य लाने का एक साधन हैं।

निर्देश के प्रकारः—निर्देश के निम्नलिखित चार प्रकार माने गये हैं।

(१) सम्मान-निर्देश अथवा व्यक्ति-निर्देश (Prestige Suggestion)—जब हम किसी एक व्यक्ति के निर्देश को इस

लिये मान लेते हैं कि हम उसे सम्मान की दृष्टि से देखते हैं, तब हम ऐसे निर्देश को सम्मान-निर्देश या व्यक्ति निर्देश कहते हैं। व्यक्ति निर्देश अधिक सफलता से तब काम करता है, जब निर्देशक निर्देशित व्यक्ति से आयु में अथवा मानसिक तथा चारित्रिक दृष्टि से अधिक शक्तिशाली होता है। जिस अनुपात में निर्देशक की शक्ति निर्देशित व्यक्ति से अधिक होती है अथवा जितनी अधिक सफलता के साथ वह अपनी अधिक शक्ति का प्रभाव डाल सकता है, उसी अनुपात में निर्देशित व्यक्ति निर्देशक के विचारों को निर्देश-क्रिया द्वारा ग्रहण करता है। हम लोगों ने देखा है कि कोई नेता जितना ही मानसिक तथा नैतिक दृष्टि से अधिक सबल होता है, उतने ही अधिक व्यक्ति वह अपने अनुसरण के लिये प्राप्त कर लेता है। जब कोई नेता व्याख्यान, देता है, तो हम उसके द्वारा प्रकट किये गये विचारों को इसीलिये बिना तर्क किये मान लेते हैं कि हम उसके गुणों के कारण उसका सम्मान करते हैं।

समूह-निर्देश (Mass Suggestion):—जिस प्रकार हम किसी एक व्यक्ति के विचारों से प्रभावित होते रहते हैं, उसी प्रकार समूह के विचारों का हमारे ऊपर निर्देश हुआ करता है। हमारे द्वारा नये विचार के ग्रहण में संख्या अथवा बहुमत का भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। बच्चा किसी न किसी समूह या समाज में पैदा होता है, अतः उस समूह या समाज में जो

विचार मान्य रहते हैं, वह बच्चा भी ग्रहण करता है। इस प्रकार के निर्देश को हम समूह-निर्देश कहते हैं। जब हम किसी धार्मिक जलूस में शामिल होकर सड़क पर चलते हैं, तो उस जलूस के अनेक व्यक्ति जो विचार रखते, वही विचार हमारे भी हो जाते हैं। प्रत्येक संस्था का नया सदस्य समूह-निर्देश के कारण कुछ समय के पश्चात् उस संस्था के मान्य सिद्धान्तों को केवल स्वयं ही नहीं मान लेता है वरन् उसका प्रचार भी करता है। हमारे कुटुम्ब, जाति, धर्म तथा राष्ट्र इत्यादि इसी प्रकार अपने सदस्यों को समूह-निर्देश के द्वारा प्रभावित करते रहते हैं।

(३) आत्म-निर्देश (Auto-Suggestion):--अपने जीवन में हम बराबर अपने ज्ञान की वृद्धि करते रहते हैं। इस ज्ञान से हमारे अन्दर कुछ विचार उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त हम अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिये कुछ विचार अपने मन में करते रहते हैं, चाहे वे विचार हमारे समाज के आदर्शों के प्रतिकूल हों। इस प्रकार हमारे जो भी विचार होते हैं उनकी श्रेष्ठता का हम गर्व करते हैं और उन्हें हम अपने ऊपर आरोपित करते रहते हैं और इन्हीं विचारों से हमारे कार्य प्रभावित होते रहते हैं इस प्रकार हम अपने आत्म-निर्देश के द्वारा अपने विचारों को ही हम अपने ऊपर लादते हैं। कुछ लोगों का मत है कि व्यक्ति-निर्देश (Prestige Suggestion) तथा समूह-निर्देश (Mass Suggestion) भी हमें आत्म-निर्देश (Auto-

Suggestion) के द्वारा ही प्रभावित करते हैं।

(४) विपरीत-निर्देश (Contra-Suggestion):—कभी कभी यह भी देखने में आता है, कि हम दूसरों के विचारों को व्यक्ति निर्देश के समान ग्रहण न करके ठीक उसको उलटे रूप में ग्रहण करते हैं, इस प्रकार का निर्देश विपरीत-निर्देश कहलाता है। प्रायः जिसकी योग्यता हमारे समान अथवा हमसे कम होती है अथवा जिसका सम्मान हमारी दृष्टि में नहीं होता है, उसका निर्देश हमारे लिये विपरीत-निर्देश का काम करता है। हम लोगों ने प्रायः देखा है कि हम किसी व्यक्ति से कहते हैं कि ऐसा न करना, और वह हमारी बात न मानकर उसके विपरीत कार्य करता है। यह विपरीत-निर्देश का ही प्रत्यक्ष प्रभाव है।

निर्देश और अपराधः—

यदि किसी परिवार का स्वामी दुश्चरित्र होता है, तो उसमें पैदा होने वाले बच्चे उसके विचारों द्वारा प्रभावित होते रहते हैं। परिवार की रूढ़ियाँ भी बच्चे को निर्देशित करती रहती हैं। अतः बुरे परिवार में पला हुआ बच्चा भी दुश्चरित्र अथवा अपराधी बन जाता है। इसी प्रकार यह भी देखा गया कि कुछ व्यक्ति किसी अपराधी की संगति में आते हैं तब वे उसके विचारों से प्रभावित होकर कुछ समय पश्चात् उसी के समान घातक अपराधी बन जाते हैं।

समूह में भी यदि कुछ व्यक्तियों के कारण कोई विचार अथवा अफ़वाह फैल जाती है, तो उस समूह के बहुत से व्यक्ति उस अफ़वाह पर विश्वास करके सामूहिक अपराध करने लगते हैं। जातीय अथवा धार्मिक झगड़ों में अफ़वाहें घातक निर्देश का काम करती हैं और मनुष्य सामूहिक रूप से अपराध करने लगते हैं। अच्छे अच्छे पढ़े लिखे आदमी भी समूह के विचारों द्वारा निर्देशित होकर ऐसे हीन कार्य करने लगते हैं जो कदाचित वे व्यक्तिगत रूप से समूह के बाहर न करते।

अपराध-निरोध में भी इस समूह-प्रवृत्ति (Mob-mentality) का ध्यान रखना पड़ता है। समूह प्रायः अपने नेताओं के द्वारा ही अनुचित मार्ग की तरफ़ जाने से रोका जा सकता है, अतः धार्मिक जलूसों इत्यादि में उसके नेताओं को ही पुलिस अफ़सर जमानत मुचलके द्वारा अथवा किसी अन्य भेद नीति द्वारा अपने मुट्ठी में कर लेते हैं और पूरे समूह को अपराध करने से बचा लेते हैं। परन्तु अयोग्य पुलिस अफ़सर परिस्थिति को ठीक करने के बजाय खराब कर देते हैं। सफल पुलिस अफ़सर यह ठीक ठीक समझ लेता है कि समूह (Mob) अपने नेताओं के कुत्सित विचारों से पूर्णतया निर्देशित हो गया है और उस पर समझाने बुझाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, तब वह शक्ति का प्रयोग करते हुये समूह को अपराध करने से रोकता है। इस दमन नीति का तभी प्रयोग भी करना चाहिये, जब आप

अन्य साधनों से समूह के वेग को न रोक सकें। निर्देश में बड़ी शक्ति होती है, यह पुलिस अफसर को सदा स्मरण रखना चाहिये। ऐसे बुरे और घातक निर्देशों की काट अपनी घोषणा अथवा मनादी द्वारा करते रहना चाहिये; जैसे यदि ऐसी अफवाह फैली है कि अमुक जाति के कुछ व्यक्तियों ने अन्य किसी जाति के कुछ व्यक्तियों को मार डाला है, तो पुलिस को तुरन्त यह सूचना वितरित कर देनी चाहिये कि ऐसा नहीं हुआ है और यह गलत अफवाह है। जिन केन्द्रों से ऐसी अफवाहें फैलती हैं उन्हें भी अपने क़ब्ज़े में कर लेना चाहिये।

सहानुभूतिः—हम ऊपर केवल इतना बता आये हैं कि दूसरे की भावानुभूति से प्रभावित होना ही सहानुभूति है। अब इस सामान्य प्रवृत्ति की कुछ व्याख्या करना आवश्यक प्रतीत होता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास विचार पहुँच जाते हैं, उसी प्रकार एक व्यक्ति का मानसिक उद्वेग अथवा उसकी अनुभूति दूसरे व्यक्ति के पास पहुँच जाती है, क्योंकि हमारी संवेदनाओं में एक संक्रामक गुण होता है। यह सामान्य प्रवृत्ति मनुष्यों में ही नहीं पशु और पक्षियों में भी पाई जाती है। एक पशु की दर्दनाक चीख सुनकर अन्य पशु भी दुःखी होकर चीखने लगते हैं। हम भी दूसरे के दुःख में दुःखी होते हैं। जब एक या अनेक व्यक्ति किसी अनुचित कार्य के प्रति अपने क्रोध तथा घृणा का प्रदर्शन करते हैं तो हम भी वैसा

ही करने लगते हैं।

कुटुम्ब समाज तथा राष्ट्र के विकास में इस सामान्य प्रवृत्ति का बहुत बड़ा महत्व है। समाज तथा राष्ट्र के विद्रोहियों का कभी दमन न हो पाता, यदि हम सामूहिक रूप से एक अनुभूति में बँध कर कार्य न करते। इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्म-रक्षा, जाति-रक्षा, समाज-रक्षा के लिये सहानुभूति का होना अत्यन्त आवश्यक है। अनुभूति-साम्य होने पर ही हमारे कार्य्य में उचित प्रवाह तथा वेग आता है।

सहानुभूति दो प्रकार की होती हैं; एक निष्क्रिय (Passive) होती है और दूसरी सक्रिय (Active)। निष्क्रिय सहानुभूति के उदाहरण हम ऊपर दे आये हैं, जैसे हम दूसरे को रोता हुआ देख कर रो देते हैं; हँसते देख कर हँस देते हैं। परन्तु मनुष्य में एक विशेषता यह भी है कि वह अपने भावों को दूसरे तक पहुँचाने का सक्रिय प्रयत्न भी करता है, जैसे एक कवि अपने भावों को अपने काव्य द्वारा दूसरों तक पहुँचाता है। एक राजनैतिक नेता अपने ओजस्वी भाषण द्वारा देशवासियों को देश के शत्रु के प्रति उकसाता है। ये सब सक्रिय सहानुभूति के उदाहरण हैं। कुछ लोग अकाल पीड़ित इत्यादि बनकर आप से कुछ पैसा ले जाते हैं और इस प्रकार इस सक्रिय सहानुभूति प्रवृत्ति का एक तरह से व्यापार सा करते हैं।

सहानुभूति और अपराधः—

जैसा कि ऊपर भी संकेत किया गया है कि सक्रिय सहानुभूति उत्पन्न करके कुछ लोग दूसरे को ठगते घूमते हैं, इस कारण बहुत से देशों में भीख माँगना भी अपराध समझा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी अन्धी सहानुभूति किस प्रकार दूसरों में अपराध करने की प्रेरणा उत्पन्न करती है।

पारिवारिक सहानुभूति बड़े बड़े अपराध का कारण बन जाती है; उदाहरण के रूप में मोहन का पिता सोहन के द्वारा अपमानित किया जा रहा है, मोहन पारिवारिक सहानुभूति के वशीभूत होकर सोहन का केवल अपमान ही न करके उसे ऐसी घातक चोट पहुँचा देता है कि सोहन मर जाता है। पारिवारिक अथवा जातीय सहानुभूति के अधार पर रोज़ ही फौज़दारी के मुक़दमें हमारी कचहरियों में आया करते हैं।

दो धर्मावलम्बियों के बीच होने वाले झगड़े भी किसी प्रभावशाली धार्मिक नेता के व्याख्यान द्वारा सक्रिय सहानुभूति उत्पन्न करने के कारण ही होते हैं। जिहाद या धर्मयुद्ध इसी सहानुभूति के आधार पर ही रचे जाते हैं अथवा बल प्राप्त करते हैं। यदि यह धर्मयुद्ध अत्याचारी के अत्याचार के प्रति न हुआ वरन् केवल दूसरे की लूट फूंक के लिये अथवा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये हुआ, तो यह धर्मयुद्ध न रह कर एक महान् अपराध का रूप ले लेता है जो मानवता के नियमों

के प्रतिकूल है और कोई भी दण्ड या प्रायश्चित उसकी कालिमा धोने के लिये पर्याप्त नहीं है।

अपराध के लिये अन्वेषण में भी जब हम जाँच के कार्य में जाते हैं तो हमें कभी भी उन लोगों के बयान से पथ-भ्रष्ट न हो जाना चाहिए जो अपराधी से किसी प्रकार की विशेष-सहानुभूति रखते हैं अथवा द्वेष रखते हैं। उचित सूचना केवल निष्पक्ष व्यक्तियों से ही प्राप्त हो सकती है। अपराध के अन्वेषण में पुलिस कर्मचारी को भी अनुचित सहानुभूति का शिकार न हो जाना चाहिये अन्यथा वह कभी पक्षपात-रहित व्यवहार नहीं कर सकता है।

अनुकरण:—अनुकरण की परिभषा ऊपर दी जा चुकी है। अनुकरण की सामान्य प्रवृत्ति का मानव-विकास में बहुत बड़ा हाथ है। बालक जब इस संसार में उत्पन्न होता है तो उठना, बैठना, बोलना, खाना पीना और अनेक प्रकार के व्यवहार अनुकरण के द्वारा ही सीखता है। यही नही बहुत कुछ हमारी सभ्यता और संस्कृति का विकास अनुकरण पर निर्भर है। कुछ मनुष्यों के बालक भेड़ियों की मांद में १२ या १३ वर्ष की उम्र में पाये गये हैं जिनको भेड़िया बहुत छोटी उम्र में उठा ले गया था। इन बच्चों में यह देखा गया है, कि वे हाथ और पैर के बल जानवरों के समान चलते थे, खाना पशुओं का सा खाते और मनुष्य की बोली भी नही बोल सकते थे। इसका कारण

यह था कि वे भेड़िये के कार्यों की ही नकल कर सके, मानव-सम्पर्क न होने के कारण मानव व्यवहार का अनुकरण न कर सके।

हम प्रायः अच्छे वातावरण तथा अच्छी संगति तथा अच्छी शिक्षा के गुण गाया करते हैं, इसका कारण यही है कि ये अनुकरण के लिये उचित साधन उपस्थित करते हैं। जब स्कूल अथवा समाज के द्वारा उचित आदर्श ही नही उपस्थित किया गया, तो बालक या कोई प्रौढ़ व्यक्ति किस प्रकार अच्छा व्यवहार कर सकता है।

कुछ लोगों का कहना है कि अनुकरण मनुष्य की प्रतिभा को नष्ट कर देता है। परन्तु ऐसा नहीं है, वह वास्तव में प्रतिभा के जगाने का साधन भी बन सकता है। अनुकरण, नवीनता या मौलिकता का बाधक नहीं वरन् साधक है। अनुकरण वह परिस्थिति पैदा कर देता है जिससे किसी व्यक्ति की मौलिकता को जगाया जा सके अथवा उसकी प्रतिभा को प्रयोग में लाया जा सके।

ड्रेवर महोदय ने अनुकरण दो प्रकार के बताए हैं एक है अचेतन (Unconscious) और दूसरा है ऐच्छिक (Voluntary)। बालक किसी परिस्थिति में रह कर उसी के अनुकूल रहन-सहन, बोलना चालना सीख लेता है, यह अचेतन अनुकरण के उदाहरण हैं; क्योंकि बालक उसके लिये विशेष प्रयत्न करता

हुआ नहीं दिखाई पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति किसी कला को सीख रहा है, तो उसे हम ऐच्छिक अनुकरण के अन्तर्गत लेंगे। इसके अतिरिक्त दूसरे दृष्टिकोण से ड्रेवर महोदय ने अनुकरण के दो और भेद किये हैं, एक है दृश्यानुकरण (Perceptual Imitation) और दूसरा है विचारानुकरण (Ideational Imitation)। जो कुछ हमारी दृष्टि के सामने से गुजरता है, उसकी नक़ल हम करते हैं तो उसे दृश्यानुकरण कहेंगे और जो कुछ केवल हमारे मन में गुजरता है उसकी नकल जब हम करते हैं, तब उसे हम विचारानुकरण कहेंगे।

अनुकरण से दो प्रवृत्तियाँ और पैदा हो जाती हैं जिन्हें हम ईर्ष्या (Envy) और स्पर्धा (Emulation) कहते हैं। जब हम अपने प्रतिद्वन्द्वी की नकल करके उसके आगे बढ़ने के बजाय उसके अहित का चिन्तन करने लगते हैं तो वह ईर्ष्या कहलाती है। यह प्रवृत्ति व्यक्ति के विकास के लिये घातक होती है। परन्तु स्पर्धा में हम अपने प्रतिद्वन्द्वी के कार्यविधि से लाभ उठा कर अथवा उसका अनुकरण करके उससे आगे बढ़ना चाहते हैं और उसका किसी प्रकार अहित नहीं चाहते हैं। अनुकरण के द्वारा उत्पन्न यह स्पर्धा की प्रवृत्ति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्तियों को तथा समाज को आगे बढ़ाती है।

अनुकरण और अपराधः—

हम अचेतन अनुकरण और दृष्यानुकरण का उल्लेख ऊपर

कर आये हैं। इन प्रवृत्तियों के आधार पर बालक जिसका मन अत्यन्त कोमल होता है, घर अथवा पड़ोस के दूषित वातावरण से प्रभावित होकर बुरे कार्य करने लगता है। बालक अथवा प्रौढ़ व्यक्ति बुरे साथियों तथा पथप्रदर्शकों के अनुकरण के द्वारा बड़े-बड़े अपराध करने लगते हैं। अपराधी व्यक्तियों तथा अपराधी जातियों के बालक अपराधी बन जाते हैं, इसका बहुत बड़ा कारण अचेतन अनुकरण ही है।

ऐच्छिक अथवा सप्रयत्न अनुकरण से भी मनुष्य बड़े बड़े दुर्गुण सीख लेता है। नकब लगाना, डाका डालना, पुलिस के चंगुल में न आना इत्यादि कार्य मनुष्य सप्रयत्न अनुकरण के द्वारा ही सीख सकता है। नये अपराधी अपने अपराध कार्य को एक कला के रूप में चतुर अपराधियों से सीखा करते हैं और कुछ समय के बाद अपने कार्य में दक्ष हो जाते हैं।

अनुकरण का बुरा प्रभाव न पड़े, इसका केवल यही उपाय है कि बालक को दूषित वातावरण से हटाकर अच्छे वातावरण में रक्खा जाय। यदि कोई व्यक्ति अपराधी बनने लगा है, तो उसे उसके साथियों से अलग कर दिया जाय जिससे वह अपराध का अनुकरण न कर सके। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है उसे जेल अथवा किसी भी अन्य स्थान में जहाँ कहीं भी रक्खा जाय, उसके समक्ष उचित आदर्श उपस्थित किया जाय जिससे उस अच्छे आदर्श का अनुकरण करके वह अच्छा नागरिक बन जाय।

खेल प्रवृत्तिः—हमारी एक समान्य प्रवृत्ति खेल भी है। है। इस प्रवृत्ति का अपराध से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है तथा यह अपराध के प्रसार में प्रधान कारण का काम नही करती है इस लिये इस प्रवृत्ति का विस्तृत विवरण यहाँ पर नहीं दिया जा रहा है। परन्तु इस प्रवृत्ति के सम्बन्ध में इतना समझ लेना अत्यन्त आवश्यक कि खेल एक स्फूर्तिमय, आनन्द-युक्त और स्वतः प्रवाहित प्रवृत्ति है जिसका उद्देश्य सदैव उस क्रिया में ही निहित रहता है जो खेल के रूप में ली गई है। खेल और काम में केवल उद्देश्य की आन्तरिकता और वाह्यता का अन्तर है अर्थात् एक ही क्रिया किसी व्यक्ति के लिये खेल हो सकती है और दूसरे के लिये काम। उदाहरण के लिये लकड़ी का काम, वेतन पर कार्य करने वाले बढ़ई के लिये काम है क्योंकि उसका उद्देश्य उस काम के बाहर मजदूरी है; और यदि कोई पढ़ा लिखा व्यक्ति उस काम को शौक के रूप में अवकाश के समय में करता है तो वह उसके लिये खेल के समान है। यह समझना भूल होगी कि फुटबाल या हाकी इत्यादि ही खेल हैं। हम जीवन के कठिन से कठिन कार्य या कर्त्तव्य को खेल के समान दिलचस्पी से कर सकते हैं यदि हम उस कार्य को इसलिये करते हैं कि हमें उसके करने में आन्तरिक आनन्द की प्राप्ति होती है। एक कर्त्तव्य-परायण जन-सेवक जनता के हित के काम में वैसा ही आनन्द प्राप्त करता है, जैसा कि एक उत्कृष्ट खिलाड़ी किसी खेल में।

खेल के सम्बन्ध में एक बात यह भी ध्यान देने के योग्य है कि खेल हमारी जंगली अथवा असामाजिक वृत्तियों के रेचन का भी साधन है। हमारी वह वृत्तियाँ जिनको सभ्य समाज में कम प्रकाशित करने का अवसर मिलता है, वे खेल के द्वारा अपना प्रकाशन पा जाती है, और इस प्रकार उनकी तृप्ति हो जाती है। हमारी दवी हुई भावनायें भी खेल में अपना प्रकाशन पा जाती हैं। उदाहरण के रूप में हमारी द्वन्द्व प्रवृत्ति (Combat) हमारे सामान्य जीवन में पर्याप्त प्रकाशन नहीं पाती है, क्योंकि दूसरे से भिड़ना सभ्य समाज में वांछनीय कार्य नहीं समझा जाता है। अतः यह भिड़ने की प्रवृत्ति खेल में उचित प्रकाशन पा जाती है, अन्यथा यह अवरुद्ध होकर किसी न किसी समाज विरोधी कार्य में अपने को प्रकाशित करती है। होली इत्यादि के अवसर पर रंग इत्यादि डालने की प्रथा में हमारी अनेक असामाजिक प्रवृत्तियाँ अपना प्रकाशन प्राप्त कर लेती हैं।

खेल के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त जिसको हर्बर्ट स्पेन्सर ने प्रतिपादित किया है, वह यह है कि मनुष्य की जो कुछ शक्ति अपने दैनिक जीवकोपार्जन इत्यादि के काम से बच रहती है, वह शक्ति मनुष्य किसी न किसी काम को खेल रूप में लेकर व्यय कर देता है। इसलिये उचित मनोविनोद का अभाव भी अपराध का कारण बन सकता है।

अवकाश, खेल तथा मनोविनोद के अभाव का अपराध से सम्बन्धः—

हमने जो सिद्धान्त खेल के सम्बन्ध में ऊपर प्रतिपादित किये

हैं, उनके विषय में हमें यहाँ पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिये कि वे हमारे पुलिस के कार्य को सफल बनाने में कहाँ तक सहायक होंगे। हमें इस बात को विशेष रूप से देखना चाहिये कि हमारे पुलिस दल को अपनी ड्यूटी को पूरा करने के पश्चात् कितना समय अवकाश के रूप में मिलता है और उसका प्रयोग वह किस प्रकार करते हैं। अपने अवकाश (Leisure) का प्रयोग इन्हें अच्छे कार्यों में करना चाहिए अन्यथा वे उस समय को दूषित कार्यों में नष्ट कर देंगे। उनके लिये उचित पुस्तकालय, खेल इत्यादि का आयोजन होना चाहिये, नहीं तो वे जुआँ इत्यादि हानिकारक प्रवृत्तियों में फँस जायेंगे। हमारे समाज के अनेक किशोर अवस्था के बालक अपराध के शिकार बन जाते हैं, क्योंकि समाज में इसकी कोई आदर्श व्यवस्था नही है कि हमारे बालक अपने अवकाश के समय को उचित प्रकार से व्यतीत करें। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के व्यवसाय (Work) का आकार अपराध का कारण बन सकता है उससे कहीं ज्यादा उसका अवकाश (Leisure) तथा उसमें किया गया कार्य अपराध का साधन बन जाता है। बहुत से लोग अपने अवकाश के अनुचित प्रयोग के कारण ही अपराधी बनते हैं, क्योंकि वे अपने अवकाश के समय में जुआ खेलना, शराब पीना इत्यादि कार्यों को करने लगते हैं और उसमें उसी प्रकार स्फूर्ति तथा आनन्द की प्राप्ति करते हैं जैसे खिलाड़ी खेल में अपनी बची हुई शक्ति को खर्च करके आनन्द प्राप्त करता है।

पुलिस दल को यह भी चाहिए कि अपने कार्य को केवल वेतन लाभ की दृष्टि से ही न करके वरन् उसे एक जीवन-उद्देश्य के रूप में स्वीकार करके करे, तो उसे अपने कार्य में खेल का सा आनन्द प्राप्त होगा; जिस प्रकार एक स्वार्थरहित समाज-सेवक को समाज सेवा के कार्य में आनन्द प्राप्त होता है।

कभी कभी हम अपनी दबी हुई इच्छाओं का प्रकटीकरण समाज विरोधी कार्यों में करते हैं और उनमें खेल जैसे आनन्द की प्राप्ति करते हैं। कुछ बाल-अपराध खेल रूप में किये जाते हैं, जैसे एक शक्तिशाली बालक कमज़ोर बालकों को टाँग लगा कर गिरा देता है और उसके शारीरिक चोट तथा मानसिक खेद का कारण बनता है। आप को उस गड़रिये के लड़के की मिसाल स्मरण होगी, जो प्रतिदिन 'भेड़िया आया' 'भेड़िया आया' चिल्लाकर समाज के व्यक्तियों को परेशान किया करता था, जो उसे बचाने के लिये उस तक दौड़ कर आते थे और अन्त में उसे मज़ाक समझ कर बेचारे लौट जाया करते थे। यह बाल-अपराध (Child Delinquency) या खेल–मय झूठ (Playful lie) की मिसाल है। इसी प्रकार कुछ व्यक्ति खलिहानों में आग लगा कर आनन्द की प्राप्ति करते हैं अथवा लेटर बक्सों तथा टेलीग्राफ के तारों को तोड़ने का प्रयत्न करते हैं, ये सब खेल-प्रवृत्ति के पथ-भ्रष्ट होने के परिणाम हैं जो उचित सामाजिक व्यवस्था के भंग करने वाले कार्यों में प्रकट होती है। जिस समाज में उचित मनोविनोद तथा मनोरंजन के

साधन का अभाव होता है, वहाँ व्यक्ति अनुचित अथवा समाज-विरोधी कार्यों में अपनी बची हुई शक्ति को खर्च करते हैं। अपराध की रोकथाम के लिये यह परमावश्यक है, कि हमारी दबी हुई भावनाओं तथा असामाजिक वृत्तियों की तुष्टि के लिये उचित मनोरंजन का प्रबन्ध हो; क्योंकि मनोरंजन के साधन का अनौचित्य भी हमारे अपराधों का कारण हो जाता है।

प्रश्न

१—मनुष्य में कौनसी मुख्य मुख्य सामान्य जन्मजात प्रवृत्तियाँ होती हैं। ये व्यक्ति के व्यवहार पर किस प्रकार प्रभाव डालती हैं ?

२—निर्देश किसे कहते हैं, इस प्रवृत्ति से व्यक्तिगत तथा सामूहिक अपराध पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है ?

३—अनुकरण का अच्छे तथा बुरे व्यवहार के निर्धारण में क्या प्रभाव है। हमारे अनेक अपराध अनुकरण का ही परिणाम होते हैं, इस कथन की विवेचना कीजिये ?

४—सहानुभूति किस दशा में अपराध के अनुसन्धान में बाधक सिद्ध होती है; पुलिस कर्मचारी अपने कार्य के प्रति जनता की सहानुभूति किस प्रकार प्राप्त कर सकता है।

५—खेल की प्रवृत्ति का व्यक्ति के विकास में क्या महत्व है ? मनुष्य के मानसिक स्वास्थ्य के लिये उचित मनोविनोद क्यों आवश्यक है ?

अध्याय ६

सीखना और आदत

(Learning and Habit)

सीखनाः—हम मूल-प्रवृत्तियों के अध्याय में यह बता आये हैं, कि हम किसी विशेष परिस्थिति में मूल-प्रवृत्तियों की प्रेरणा से एक विशेष प्रकार की नैसर्गिक प्रतिक्रिया (Natural Response) करते हैं जिसे हमें सीखना नहीं पड़ता है; वह हमारे लिये जन्मजात होती हैं। परन्तु हम इस स्थिति में बहुत दिन नहीं रहते हैं अन्यथा हमारा विकास बिल्कुल रुक जाय। हम उस नैसर्गिक प्रतिक्रिया में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर लेते हैं, यह हमारी अर्जित प्रतिक्रिया है। इस अर्जित या परिवर्तित प्रतिक्रिया को सीखना कहते हैं। उदाहरण के रूप में एक बालक अंगारे को देखता है, उसे चमकता देख कर वह जिज्ञासा की मूल प्रवृत्ति के कारण उस अंगारे को पकड़ने के लिये प्रेरित होता है, यह बालक की नैसर्गिक प्रतिक्रिया है। परन्तु जब एक बार बालक उससे जल जाता है, तो पुनः वह

आग को नहीं छूता है और उसकी तरफ से हाथ समेट लेता है। आग की उपस्थिति में हाथ समेटने की प्रतिक्रिया सीखी हुई अथवा अर्जित प्रतिक्रिया है। इस प्रतिक्रिया को हम सीखना (Learning) कहेंगे। इस प्रकार व्यक्ति जन्म-पर्यन्त अनेकों कार्य नित्य नये सीखा करता है।

सीखना और अपराध

प्राकृतिक-प्रतिक्रिया में परिवर्त्तन जब समाजोचित होता है तो वह सीखना उचित-प्रतिक्रिया (Appopriate Response) में गिना जाता है और जब वह समाज के आदर्शों से नीचे गिर जाता है तो वह दुष्कर्म अथवा अपराध का रूप ले लेता है। उदाहरण के रूप में जब हमें भूख लगती है और हम दूसरे के पास भोजन देखते हैं तो उससे भोजन को किसी प्रकार भी (छीन कर ही क्यों न हो) ले लेना नैसर्गिक प्रतिक्रिया (Natural Reponse) है परन्तु हम उसे माँग सकते हैं अथवा चुरा भी सकते हैं। माँगना या चुराना ये सब क्षुधा-तृप्ति के सम्बन्ध में सीखी हुई प्रतिक्रियायें हैं। परन्तु माँग कर लेना समाजोचित प्रतिक्रिया है और चुराना उचित प्रतिक्रिया नहीं है, अतः उसे अपराध कहेंगे। इसलिये हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब हमारा सीखना (Learning) अनुचित-प्रतिक्रिया (Inappropriate Response) का रूप ले लेता है तब उसका अपराध की श्रेणी में चले जाने का भय रहता है।

किसी व्यक्ति ने क्या सीखा है, इस पर ही उसकी उचित सामाजिकता निर्भर है। अपराध जन्मजात प्रतिक्रिया नहीं है वरन् एक सीखी हुई प्रतिक्रिया है।

सीखने के नियम

(१) भूल और सुधार का नियम (Learning by Trial & Error):—जब मनुष्य एक बार भूल कर लेता है और उसमें उसे कुछ अड़चन अथवा दुख का अनुभव होता है, तो वह उस भूल में सुधार करके अभीष्ट बात सीख लेता है। कोई अपराधी अपराध इसलिये भी सीख सकता है, कि उसे प्रथम अपराध के लिये कोई दण्ड नहीं मिला है।

(२) अनुकरण द्वारा सीखना (Learning by Imitation):—हम बहुत से कार्य अनुकरण के द्वारा सीखते हैं। यदि चाहते हैं कि व्यक्ति बुरा कार्य न सीखे, तो इसके लिये उचित वातावरण एवं उचित आदर्श उसके समक्ष रखना अत्यन्त आवश्यक है। अनेक अपराध अनुचित कार्य के अनुकरण के कारण ही होते हैं।

(३) अभ्यास का नियम (Law of Exercise):—यह नियम थार्नडाइक के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इसका यह तात्पर्य है कि यदि हम किसी क्रिया को बारबार दुहराते हैं तो उससे यह लाभ है कि प्रत्येक क्रिया में अनावश्यक का त्याग करते

जाते हैं और आवश्यक का ग्रहण करते जाते हैं और अन्त में हमारे सीखे हुये काम में पुष्टता आ जाती है। इस प्रकार बुरे काम की पुनरावृत्ति उस कार्य के संस्कार को पुष्ट करती है।

(४) **सफलता अथवा प्रभाव का नियम** (Law of Effect):—यह भी थार्नडाइक का नियम है। इसका यह तात्पर्य है कि यदि हमें किसी कार्य में सफलता मिलती है, तो हम अवश्य उसे सीख लेते हैं अन्यथा उस कार्य को बिना सीखा हुआ ही छोड़ देते हैं; क्योंकि असफलता के कारण हमारे अन्दर निराशा छा जाती है। सफलता के कारण ही अपराधी अपराध को जीवन-वृत्ति के रूप में ग्रहण कर लेता है।

(५) **तत्परता का नियम** (Law of Readiness):-जब कोई कार्य अरुचिकर होता है अथवा उसमें अनेक बाधाएँ होती हैं, तब भी हम अपनी इच्छा शक्ति के द्वारा उसे बहुत हद तक सीख सकते हैं। कारावास में बहुत से अपराधी उचित व्यवसाय अच्छी तरह सीख नही पाते हैं, क्योंकि वे उन व्यवसायों के सीखने में इच्छा-शक्ति का प्रयोग नहीं करते हैं अथवा उन व्यवसायों के प्रति उनमें तनिक भी रुचि नहीं है। इच्छा रखने से हमारे अन्दर नये काम सीखने के लिये तत्परता आ जाती है।

(६) **सूझ के द्वारा सीखना** (Learning By Insight):-हम बहुत से कार्य बिना किसी के पथ-प्रदर्शन के अपनी सूझ

द्वारा सीख जाते हैं । यह सूझ बुद्धिमान व्यक्तियों में अधिक होती है। मनुष्य जब किसी कठिनाई में होता है और उससे छुटकारा पाने के लिये कोई रास्ता नहीं दिखाई पड़ता है, तो एकायक उसे सूझ द्वारा उचित उपाय समझ में आ जाता है और वह अपनी कठिनाई को हल कर लेता है। यह सूझ निम्न-योनि (Lower Species) के प्राणियों में बहुत कम पाई जाती है। यह मनुष्य की ही विशेषता है। इस नियम को समझाने के लिये चिपांजी पर किये गये प्रयोग का उल्लेख करना उपयोगी होगा। एक बार एक चिपांजी को एक पिंजड़े में बन्द कर दिया गया और उसके पिंजड़े में दो बांस डाल दिये गये और एक केला पिंजड़े के बाहर इस दूरी पर डाल दिया गया कि कोई भी बांस अकेला उस केले तक न पहुँच पाये। चिपांजी बहुत देर तक भूल तथा सुधार (Trial & Error) का प्रयोग करता रहा परन्तु उसे केला प्राप्त करने का उचित उपाय न सूझा। अन्त में उसकी सूझ (Insight) ने यकायक उसे सहायता दी और उसने मोटे बांस के छेद में पतले बांस को अच्छी तरह घुसेड़ कर दो बांस के टुकड़ों को एक लम्बे बांस में बदल कर केला को अपने पास खींच लिया। इसी प्रकार अनेक अपराधी अपनी सूझ के द्वारा अपराध करने के नये नये तरीके निकाल लेते हैं, जो पुलिस को भी आश्चर्य-चकित कर देते हैं।

आदत (Habit)

आदत का स्वरूपः—

हमारा सीखना बारबार के अभ्यास से आदत में बदल जाता है। अतः आदत सीखने का एक पुष्ट रूप है। जब हम किसी कार्य को सीखते हैं तो हमें उसमें विशेष ध्यान लगाना पड़ता है तथा कठिनाई भी होती है। परन्तु जब हमारा सीखना आदत में बदल जाता है, तो हमें कोई कठिनाई नहीं होती है और हमारा कार्य यन्त्रवत हो जाता है। कोई स्त्री जब पहले पहल स्वेटर बुनना सीखती है, तब उसे अपना सब ध्यान उस तरफ लगाना पड़ता है। परन्तु जब उसे स्वेटर बुनने की आदत पड़ जाती है तो वह स्वेटर भी बुनती जाती है और दूसरे से बात भी करती जाती है। इस प्रकार हम अपने जीवन के अनेक दैनिक कार्य आदत में बदलते जाते हैं, जिससे हम नये कार्यों को सीख सकें। यदि हम जीवन में आदतें न बनायें तो हम जीवन में बहुत थोड़े नये कार्य सीख सकें और हमारा जीवन बहुत ही संकुचित रह जाय। हम अपना बैठना, उठना, बोलना, पढ़ना; लिखना इत्यादि सब आदत में बदल लेते हैं। जिससे हमें उसमें अपने विचार को व्यय न करना पड़े और हम नई समस्याओं के हल में अपने दिमाग़ को लगा सकें। हमारी आदत हमारी मन की मितव्यता (Economy) का परिणाम है। अतः किसी कार्य को बारबार करने से जो संस्कार हमारे मन में पड़ते हैं उन्हें हम आदत कहते हैं।

आदत की विशेषताएँ:—

(१) आदत हमारा अर्जित संस्कार है, जो हमें सदैव एक सी क्रियायें करने की प्रेरणा देता है; जैसे हम एक सी ही लिखावट लिखा करते है, क्योंकि हमारी उस प्रकार की आदत पड़ गई है। इसी कारण हमारे हस्ताक्षर एक से होते हैं।

(२) आदत के कार्य सहजक्रिया की भाँति यन्त्रवत होते रहते हैं। इसलिए उसमें हमें अपना अवधान (Attention) अथवा विचार विशेष रूप से खर्च करने की आवश्यकता नहीं होती है। आदत के कारण हमारे श्रम तथा समय की भी बचत हो जाती है।

(३) आदत के कारण हम अपने कार्य में सरलता, शीघ्रता तथा कुशलता लाते है।

(४) आदत की क्रिया में एक विशेष रोचकता का अनुभव होता है, इसी कारण हमें अपनी आदत के छोड़ने में कठिनाई प्रतीत होती है। जो कार्य हम आदत में बदल लेते हैं, उसकी आवृत्ति में विशेष आनन्द का अनुभव होता है; इसलिए शराबी शराब पीने की आदत छोड़ने में कठिनाई का अनुभव करता है।

(५) आदत अर्जित संस्कार है, इसलिये आदत प्रयत्न करने से छुटाई भी जा सकती ।

(६) कुछ लोगों का विचार है कि आदत मौलिकता को नष्ट करती है, परन्तु ऐसा नहीं है। हम तो आदत को मौलिकता के लिये बाधक नहीं वरन् साधक कहेंगे। हम अपने जीवन के अनेक कार्यों को आदत के सुपुर्द कर देते हैं तभी तो हमारे श्रम, विचार एवं समय की बचत होती है, जिससे हम नये नये मौलिक कार्य कर सकते हैं।

आदत और मूल-प्रवृत्तिः—

आदत और मूल-प्रवृत्ति दोनों में समानता इस बात में है कि दोनों यन्त्रवत् संचालित होती है और विशेष अवधान (Attention) को लगाने की आवश्यकता नहीं होती है। इसलिए मूल-प्रवृत्ति को जातीय आदत (Racial Habit) भी कहते हैं। परन्तु अन्तर इस बात का है कि आदत अर्जित क्रिया है और मूल-प्रवृत्ति जन्म जात संस्कार है। मूल-प्रवृत्ति का प्रभाव अथवा संस्कार हम नष्ट नहीं कर सकते हैं; इसका प्रभाव व्यक्ति पर सदैव किसी न किसी रूप में रहेगा, परन्तु आदत को छुड़ाया जा सकता है।

आदत का हमारे जीवन में महत्व :—

हमारी आदतों का हमारे जीवन में बहुत बड़ा प्रभाव है। हम किसी व्यक्ति की आदतों को जानकर उसके चरित्र के विषय में बहुत कुछ जान सकते हैं। इसलिये यह कहा गया है कि

मनुष्य आदतों का बन्डल है (Man is nothing but a bundle of habits)। यदि हम अपने बालकों की आदतें प्रारम्भ से ही अच्छी डाल देते हैं, तो वे प्रायः अच्छे व्यक्ति बनकर निकलते हैं। यदि उनके अन्दर अच्छी आदतों का निर्माण न हुआ तो वे एक दुश्चरित्र अथवा अपराधी के रूप में जीवन व्यतीत करते हैं। जिस प्रकार अच्छी आदतें मनुष्य को ऊपर उठाती हैं, उसी प्रकार हमारी बुरी आदतें हमें नीचे गिराती हैं। जिस प्रकार हमें अच्छी आदतों के बनाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए, उससे कहीं ज्यादा बुरी आदतों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

हमारे समाज में अनेक व्यक्ति बुरी आदतों का शिकार बन कर ही अपराधी बन जाते हैं। जिन व्यक्तियों के घर का वातावरण दूषित होता है या बुरे पड़ोस में रहते हैं वे दूसरों को देखकर स्वयं बुरी आदतें डाल लेते हैं और अपने व्यक्तित्व को दूषित कर लेते हैं। यदि हम किसी व्यक्ति को सुधारना चाहते हैं तो हमारा सब से पवित्र कर्त्तव्य यह होगा कि उसकी बुरी आदतें छुड़ायें और उनके स्थान पर उसके अन्दर अच्छी आदतों का निर्माण करें।

आदतों के डालने अथवा छुड़ाने के नियमः--

विलियम जेम्स ने अच्छी आदत डालने और बुरी आदत छुड़ाने के सम्बन्ध में निम्न ५ नियम प्रतिपादित किये हैं:—

१—दृढ़ संकल्पः—अच्छी आदत के डालने अथवा बुरी को छुड़ाने के लिये दृढ़ संकल्प करना अत्यन्त आवश्यक है। इस संकल्प को दृढ़ करने के लिये मनुष्य अनेक उपाय करते हैं। कभी कभी लोग सबके सामने कसम (Oath) खाते हैं अथवा प्रतिज्ञा करते है कि हम यह काम छोड़ देंगे। ऐसी दशा में आत्म-गौरव की रक्षा करने के लिये अथवा अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये हम पूर्ण प्रयत्न करते हैं:—

२—शीघ्र आरम्भ करनाः—प्रतिज्ञा या संकल्प करने के पश्चात हमें अच्छी आदत डालने अथवा बुरी आदत छुड़ाने का काम शीघ्र आरम्भ कर देना चाहिए। यदि हम उस कार्य को शीघ्र आरम्भ नहीं करते हैं, तो हमारी संकल्प शक्ति शिथिल पड़ जाती है। जितना समय टलता जाता है, उतना ही हमारा इरादा ढीला होता जाता है। शुभ कार्य को शीघ्र आरम्भ और अशुभ को भी शीघ्र छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। संस्कृति में एक कहावत भी है "शुभं शीघ्रम्"। संसार में कितने लोगों के मन्सूबे ज्यों के त्यों पड़े रह जाते हैं; क्योंकि वे अपने अभीष्ट कार्य को शीघ्र नहीं आरम्भ करते हैं।

३—कथन के स्थान पर कार्य करनाः—

आदत डालने में कहने के बजाय कार्य करना अधिक महत्व-पूर्ण है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कोरे उपदेश कभी अच्छी आदत डालने में सहायक नहीं होते हैं। हमें

अपने उच्च आदर्श को दूसरे के सामने रखना चाहिये और दूसरों से उसी प्रकार कार्य कराना चाहिये, तभी अच्छी आदत पड़ सकती है और बुरी छूट सकती है।

४— अपवाद न होना:—

जब तक हम अच्छी आदत पूरी तरह डाल न लें अथवा बुरी आदत छुटा न लें तब तक कोई अपवाद (Exceptions) न होना चाहिये। बहुत से शराबी व्यक्ति कहने लगते हैं कि आज शराब और पीलें फिर हमेशा के लिए तोबा कर लेंगे। ऐसे लोग कभी शराब पीने की बुरी आदत नहीं छोड़ सकते हैं। ऐसे लोगों का शाम को पीना और सुबह को तोबा करना सदैव चला करता है और उनकी शराब पीने की स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहती है। इसी प्रकार जब तक अच्छी आदत पुष्ट न हो जाय हमें कोई अपवाद का अवसर नहीं देना चाहिये, नहीं तो बहुत दिनों की पड़ी हुई अच्छी आदत एक ही अपवाद से शिथिल पड़ जाती है।

५—आवृत्ति अथवा अभ्यास:—अच्छी आदत डाल लेने के पश्चात उसकी आवृत्ति करते रहना चाहिये। यदि हमने टाइप करने की आदत डाल ली है और बीच बीच में अभ्यास अथवा आवृत्ति न करते रहेगें, तो अवश्य ही हमारी आदत में शिथिलता आ जायेगी। यही सिद्धान्त सब प्रकार की आदतों पर लागू है। अभ्यास से पुष्टता बनी रहती है।

डनलप का बुरी आदत छुड़ाने के सम्बन्ध में एक प्रयोगः-

डनलप महोदय ने बुरी आदत के छुड़ाने के लिये एक बड़ा अच्छा नियम प्रतिपादित किया है। उनका कहना है कि यदि बुरे कार्य को इस दृष्टि से किया जाये कि यह बुरा है तो वह छूट जाता है। यह सोचना उस समय लाभकारी होगा जब बुरा काम कर रहे हैं। डनलप को THE की जगह HTE टाइप करने की आदत पड़ गई थी। उन्होंने HTE को बहुत दफा इस विचार से टाइप किया कि हम गलत THE टाइप कर रहे हैं; अतः उनकी THE को गलत टाइप करने की आदत छूट गई।

डनलप का यह सिद्धांत मनोवैज्ञानिक भी है। बुरी आदत के सम्बन्ध में केवल संवेग को बदल देने से बुरी आदत छूट जाती है। जब मनुष्य किसी कार्य को करता है तब उसका उससे प्रेम रहता है और जब उसे छुड़ाना हो तो उस कार्य के प्रति अरुचि तथा घृणा पैदा कर देना आवश्यक है। डनलप महोदय का इस तथ्य की ओर संकेत है। अपराधी व्यक्ति अपने अपराध करने की आदत को अवश्य छोड़ सकता है, यदि उसकी अपराध के प्रति घृणा हो जाय। अपराध के प्रति दृष्टिकोण (Attitude) तथा स्थायी भाव को बदल देने से अपराध-वृत्ति छूट सकती है।

प्रश्न

१—अच्छा या बुरा काम सीखने के क्या मनोवैज्ञानिक नियम हैं, उनकी व्याख्या कीजिए।

२—आदत और मूल प्रवृत्ति में क्या अन्तर है; आदतें हमारे जीवन को किस प्रकार प्रभावित करती है ?

३—अच्छी आदतों के निर्माण तथा बुरी आदतों के छुड़ाने के कौन कौन से मनोवैज्ञानिक नियम हैं ?

अध्याय ७

संवेदन और संवेग

(Feeling and Emotion)

चौथे तथा पांचवे अध्यायों में उन जन्मजात संस्कारों का अध्ययन कर आए हैं जो हमारी मानसिक क्रियायों को मूल रूप से प्रेरणा प्रदान करती हैं और जिनके आधार पर हम व्यवहार करते हैं। हमारी प्रत्येक मानसिक क्रिया में तीन पक्ष होते हैं जिन्हें हम ज्ञान (Knowing) संवेदन अथवा राग (Feeling) और व्यवसाय या कृति [willing] कहते हैं। किसी मानसिक क्रिया में कोई पक्ष प्रधान रहता है और किसी में कोई अन्य, जैसे देखने, सुनने, पहचानने तथा ध्यान इत्यादि की मानसिक क्रिया में ज्ञान पक्ष की प्रधानता रहती है। भय, क्रोध, प्रेम तथा लज्जा इत्यादि की मानसिक क्रिया में संवेदनात्मक अथवा रागात्मक पक्ष की प्रधानता रहती है, भागने, आक्रमण तथा संग्रह इत्यादि के कार्य में कृति अथवा व्यवसाय पक्ष की प्रधानता रहती है।

यहां पर यह स्मरण रखना चाहिये कि हमारे ज्ञान, संवेग तथा कृति असम्बन्धित नही हैं वरन् एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। और ये तीनों हमारे व्यवहार पर छाप डालते हैं। इस अध्याय में हम संवेदन तथा संवेग का उल्लेख करेंगे, क्योंकि इनका हमारे कार्यों पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

संवेदन (Feeling)

प्रत्येक व्यक्ति का मन सुख, दुख, प्रेम, भय, काम, क्रोध, ईर्षा, द्वेष, घृणा, पश्चाताप इत्यादि का अनुभव करता है, ये अनुभूतियां राग या संवेदन कहलाती हैं। यह संवेदन दो प्रकार का होता है, १—इन्द्रिय-संवेदन (Feeling as Sensation) २—भाव-संवेदन (Feeling as emotion)। जब हमारे अंगुली में वालीवाल खेलते समय चोट आ जाती है, तो उसके कारण हमें पीड़ा का अनुभव होता है, इस प्रकार के संवेदन को हम इन्द्रिय-संवेदन कहते हैं। परन्तु जब कोई व्यक्ति हमें कुछ अपशब्द कहता है और उसके कारण हमें क्रोध का अनुभव होता है, तो हम इस संवेदन को भाव-संवेदन की संज्ञा देते हैं। इस प्रकार इन्द्रिय-संवेदन का सम्बन्ध शरीर से अधिक होता है और भाव संवेदन का मन से। इन्द्रिय-संवेदन को उत्तेजना बाहर से मिलती है, परन्तु भाव-संवेदन को गति मन के भीतर से मिलती है। इन्द्रिय-जन्य संवेदन से संचालित व्यवहार सरल और भाव-जन्य संवेदन का जटिल होता है।

प्रारम्भ में बालक का जीवन इन्द्रिय-संवेदन से ही अधिक प्रभावित होता है। बालक का उदर खाली हो जाने पर भूख से पीड़ित होता है और रोने लगता है, चाहे वह बच्चा घर में हो या सिनेमा हाल में; परन्तु ज्योंही उसे दूध मिल जाता है, वह चुप हो जाता है। ज्योंही बालक बड़ा होने लगता है, उसका व्यापार इन्द्रिय संवेदन से ऊपर उठ कर भाव-संवेदन की ओर अग्रसर होने लगता है।

संवेग

जब भाव-संवेदन प्रबलता प्राप्त करके हमारे मन में क्षोभ उत्पन्न करने लगते हैं, तो उन्हें हम संवेग, उद्वेग अथवा मन-क्षोभ का नाम दे देते हैं। ज्यों ज्यों हमारी भावना का प्रसार होता है तथा हमारे रागों में सम्पन्नता आती है, हमारे संवेगों का विकास होने लगता है और भावना की दृष्टि से हमारे आचरण का स्तर ऊपर उठ जाता है। इसी कारण प्रौढ़ व्यक्ति के व्यवहार के संवेगात्मक कारणों की विवेचना उतनी सरल नहीं होती है जितनी कि बालक के।

संवेग के भेद—हम चतुर्थ अध्याय में मैकडूगल की दृष्टि से १४ संवेग बता चुके हैं जो मूल प्रवृत्तियों से संबन्धित हैं। अन्य संवेग इनमें से कुछ के मिल जाने से बन जाते हैं। हमारे

अन्दर जो संवेग हैं उन्हें हम पांच श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं :—

१—स्वार्थमय संवेगः—भय, अभिमान, क्रोध इत्यादि ।
२—सामाजिक संवेगः—सम्मान, सहानुभूति, प्रेम इत्यादि ।
३—ज्ञान-सम्बन्धी संवेगः—विद्या-प्रेम, जिज्ञासा इत्यादि ।
४—नैतिक संवेगः—कर्त्तव्य-प्रेम, ईश्वर-प्रेम, मानव-प्रेम, इत्यादि ।
५—सौंदर्य सम्बन्धी संवेगः—कला-प्रेम, सौंदर्यानुराग इत्यादि ।

संवेग की विशेषताएँ—ड्रेवर ने संवेगों की पाँच विशेषताएँ बताई हैं। हम यहाँ पर उन विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए उनसे सम्बन्धित कुछ सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे:—

१—रागात्मक सम्बन्ध—संवेगों में किसी वस्तु या व्यक्ति के साथ रागात्मक अथवा संवेदनात्मक सम्बन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। हम प्रेम अथवा क्रोध किसी व्यक्ति के प्रति ही प्रदर्शित करते हैं।

२—शारीरिक परिवर्तन—संवेग की दशा में कुछ न कुछ शारीरिक परिवर्तन अवश्य होते हैं जैसे क्रोध में हमारी आंखे लाल हो जाती हैं, भौंहें सिकुड़ जाती हैं इत्यादि। शरीर-विज्ञान के ज्ञाताओं का कहना है कि शरीर के आन्तरिक अवयव भी कुछ न कुछ प्रतिक्रिया करने लगते हैं जैसे क्रोध की स्थिति में एड्रीन-

लीन नामक रस एड्रिनल गिल्टियों से तेजी से बहने लगता है। भय इत्यादि की दशा में पाचनकार्य में कुछ गड़बड़ी हो जाती है और वह रुक जाता है। यह हमारा रोज़ का अनुभव है कि संवेग की दशा में आमाशय, शरीर के भीतरी अंगों तथा हृदय इत्यादि की क्रिया अस्त व्यस्त तथा अव्यवस्थित हो जाती है।

जेम्स-लैंग सिद्धान्त—संवेग पहले होता है या शारीरिक परिवर्तन इस सम्बन्ध में दो सिद्धान्त हैं सामान्य सिद्धान्त यह है कि पहले संवेग होता है इसके पश्चात् शारीरिक परिवर्तन होते हैं। हमें भय का संवेग होता है, इसी कारण हम काँपने लगते हैं अथवा आमाशय का कार्य रुक जाता है। अमेरिकन मनोविज्ञान-वेत्ता जेम्स तथा डेनमार्क निवासी शरीर-विज्ञान-वेत्ता लैंग ने इस सम्बन्ध में सन् १८८० ई० में एक सिद्धान्त निकाला जो उपरोक्त सामान्य धारणा से भिन्न है। उन्होंने बताया कि विशेष कर शरीर के आन्तरिक अवयवों तथा सामान्यतया पूर्ण शरीर में परिवर्तन होने के कारण ही संवेग उत्पन्न होता है। उदाहरण के रूप में उनका कहना है कि जब हम कोई भयानक जन्तु शेर इत्यादि देखते हैं तो हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं तथा हमारी मांस-पेशियों में विशेष परिवर्तन होने लगते हैं, इस कारण हमें भय के संवेग का अनुभव होता है। यदि शारीरिक परिवर्तन न हों, तो भय कभी नहीं उत्पन्न होगा।

इस सिद्धान्त से हम एक निष्कर्ष यह निकाल सकते हैं कि

यदि भय की परिस्थिति के समय हम इन शारीरिक परिवर्तनों को किसी प्रकार रोक लें तो हम भय के संवेग से बच सकते हैं। इसी प्रकार हम क्रोध की परिस्थिति में आँखों को लाल न होने दें, भौंहें न सिकोड़ें, तो क्रोध के संवेग पर काबू पा सकते हैं।

जेम्स-लैंग के सिद्धान्त के विपरीत प्रमाण—कई शरीर शास्त्रियों ने जेम्स-लैंग सिद्धान्त के विपरीत प्रमाण दिये हैं। उनमें शेरिंगटन द्वारा किये गये प्रयोग को यहां दिया जाता है। उसने अपनी प्रयोगशाला में ऐसा कुत्ता मंगाया जिसका स्वभाव बड़ा संवेग-शील था। उसने उसकी कुछ स्नायुओं को काट दिया, जिससे वह धड़ के भीतर की सब संवेदनाओं से रहित हो जाये। इन संवेदनाओं के अभाव में भी वह अपने व्यवहार में अपने क्रोध तथा प्रेम इत्यादि के संवेग को पहले की भाँति प्रकट करता रहा। जब उसके पास एक ऐसा व्यक्ति आया जिसने उस कुत्ते को कभी नाराज कर दिया था, तो उसने उसके प्रति क्रोध का संवेग प्रकट किया और आँखें फाड़कर गुर्राया। परन्तु जब उसके समक्ष एक परिचित नौकर आया जो उसे रोज भोजन देता था, तो उसने अपनी प्रसन्नता के लक्षण प्रकट किये।

समन्वित दृष्टिकोण:—शारीरिक परिवर्तनों के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों का यह मत भी है कि संवेग और शारीरिक परिवर्तन एक दूसरे के आगे पीछे नहीं होते हैं वरन् दोनों की

अभिव्यक्ति एक साथ होती हैं। जिस समय संवेग का वेग होता है शरीर में अपने आप परिवर्तन पैदा हो जाते हैं और उनका नियंत्रण करना तथा उन्हें छिपाना आसान : हीं है।

संवेगों की शारीरिक परिवर्तन के रूप में जो अभिव्यक्ति होती हैं, वह अपराध के अनुसन्धान में पुलिस कर्मचारी के लिये अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है। जब कोई संदिग्ध व्यक्ति पुलिस कर्मचारी के समक्ष उपस्थित होता है और उसने अपराध किया होता है, तो उसके शरीर में भय इत्यादि के संवेग के कारण अनेक शारीरिक परिवर्तन हो जाते हैं, जिनके द्वारा पुलिस कर्मचारी यह समझ सकता है कि अमुक व्यक्ति ने अपराध किया है या नहीं। प्रायः संवेग की दशा में मुख की मुद्रा, आवाज़, श्वसन-क्रिया और हृदय स्पंदन में ऐसे प्रत्यक्ष परिवर्तन हो जाते हैं कि अपराधी की पहचान अधिक दुष्कर नही होती है; परन्तु साथ ही साथ यह भी न भूलना चाहिये कि संवेग की शारीरिक अभिव्यक्ति को कुछ चतुर अपराधी छिपा भी लेते हैं और शरीर की दशा ऐसी बना लेते हैं कि दोष का भाव (Sense of guilt) प्रकट न होकर निर्दोष होने का भाव प्रकट होता है।

अमेरिका में ऐसे यंत्र की रचना की गई है जो गवाही देते हुये गवाह का रक्तचाप तथा श्वसन क्रिया की नाप कर लेता है, जिससे झूठ या सच शादय का पता लग जाता है। परन्तु इसमें

केवल ५०% से ८०% तक सफलता मिली है।

(३) सुख-दुख का भाव—प्रत्येक संवेग की तीसरी विशेषता यह है कि संवेग में सुख या दुख का भाव छिपा रहता है जैसे हमें प्रेम के संवेग में अपने प्रिय व्यक्ति के मिलन पर सुख तथा उसके वियोग में दुख का अनुभव होता है। भय में भी प्रारम्भ में दुख होता परन्तु ज्यों ही भय के दूर होने की आशा होने लगती है सुख की अनुभूति होने लगती है; और यदि भय बढ़ जाता है तो हमारा दुःख और भी बढ़ जाता है।

(४) तीव्रता—संवेग की चौथी विशेषता यह है कि संवेग की दशा में एक विशेष शक्ति का अनुभव होता है और मनुष्य उसके आवेश में आकर बड़े बड़े दुष्कर कार्य कर जाता हैं, जो साधारणतया वह सामान्य संवेग-रहित दशा में न करता।

(५) विवेक-बुद्धि का अभाव—संवेग के समय हमारे अन्दर विवेक का अभाव सा दिखाई पड़ता है। उस समय जो भी विचार मन में आ गया उसी के आधार पर मनुष्य कार्य करने लगता है; उस समय कई रास्ते नहीं दिखाई पड़ते हैं।

संवेगों का हमारे व्यवहारिक जीवन पर प्रभाव

हमारे संवेग शक्तियों के केन्द्र होते हैं जिनके पीछे मूल-प्रवृत्तियों की प्रेरणा रहती है; इसी कारण संवेग की दशा में एक विशेष-शक्ति का अनुभव होता है। इस शक्ति का उचित उपयोग

हमें अपने व्यवहारों में अवश्य करना चाहिये, यदि हम चाहते हैं कि हमारे कार्यों में प्रबलता अथवा शक्ति हो। संवेग की शक्ति लेकर मनुष्य बहुत बड़े बड़े कार्य कर डालता है। देश-प्रेम के आवेश में आकर अनेक देश-वासी अपने मातृभूमि की रक्षा के लिये प्राणों तक की बाजी लगा देते हैं। यदि हम अपने व्यवहारिक अथवा क्रियात्मक जीवन में इन संवेगों का प्रयोग नहीं करते हैं, तो हम अपनी इस शक्ति को बेकार बिना प्रयोग किये ही पड़ा रहने देते हैं तथा हमारा जीवन सजीवता-रहित तथा स्फूर्ति-हीन हो जाता है।

साथ ही साथ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि हमारे संवेगों का उचित प्रयोग न हुआ तो हम बहुत ही निम्न स्तर के काम कर जाते हैं। संवेगों के वशीभूत ही होकर हम पशुवत् तथा उससे भी अधिक हीन कार्य करते हैं। संवेग में अन्धी प्रेरक शक्ति होती है। इसके कारण संवेग की दशा में मनुष्य विवेक की आंखें खो बैठता है; वह अन्धा सा होकर उचित और अनुचित का ध्यान नहीं रखता है। सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक आदर्श उसके सम्मुख कुछ महत्व नहीं रखते हैं, और उसका व्यवहार मानवता से रहित हो जाता है। अतः संवेगों के उचित प्रयोग पर ही हमारा चारित्रिक विकास निर्भर है; विवेक हीन संवेग प्रायः निम्नगामी होता है।

मूल-प्रवृत्तियों अथवा संवेगों में परिवर्तन लाने के उपाय—

मूल-प्रवृत्तियों तथा संवेगों पर उचित नियंत्रण रखने के लिये तथा उनमें उचित परिवर्तन लाने के लिए निम्नलिखित मुख्य उपाय बताये गये हैं:—

(१) दमन (Repression or Suppression)

(२) विलयन (Inhibition)

(३) मार्गान्तरीकरण (Redirection)

(४) शोध (Sublimation)

(५) रेचन (Catharsis)

(६) अध्यवसाय तथा विवेक
(Mental occupation & Reasoning)

[१] दमन—इस विधि में उत्तेजना (Stimulus) तो रहती है, परन्तु संवेग के प्रदर्शन पर रोक लगाई जाती है अर्थात् दमन के द्वारा संवेग के घातक परिणाम से बचाने का प्रयत्न किया जाता है। यह विधि अच्छी नहीं समझी जाती है, क्योंकि दबी हुई भावनाएँ अचेतन मन में घर कर लेती हैं और दमन शिथिल पड़ने पर वे ज्वालामुखी के विस्फोट के समान फिर अधिक वेग से प्रकट होती है और फिर उनका दमन अधिक दुष्कर हो जाता है।

एक दमन (Repression) अभिभावकों, समाज तथा प्रशासन द्वारा किया जाता है। इस दमन से व्यक्ति असन्तुष्ट

होकर प्रायः समाज-विरोधी कार्य करने लगता है। दूसरी प्रकार का दमन (Suppression) व्यक्ति अपने आप करता है; यह उतना घातक सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि इसमें असन्तोष की भावना इतनी प्रबल नहीं होती है।

जब सब प्रकार के अच्छे साधन असफल हो जांए तभी हमें दमन नीति का प्रयोग करना चाहिये।

[२] **विलयन**—विलयन की विधि में किसी संवेग के प्रदर्शन को रोकने के लिये हमें उत्तेजना (Stimulus) का अभाव करना पड़ता है! इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय यह है कि विरोधी संवेग को प्रधानता देते हैं। यदि हमें किसी को ब्रह्मचारी बनाना है, तो हमें यह करना होगा कि उसे कामवासना की उत्तेजना करने वाले साधनों से दूर रक्खें। दूसरा उपाय यह है कि हम कामोत्तेजक विषयों के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न करें। चोर को ऐसे अवसरों से वंचित रक्खें कि वह चोरी ही न कर सके। दूसरे उसमें चोरी के कार्य के प्रति घृणा, लज्जा तथा पश्चात्ताप का भाव उत्पन्न करें। इस उपाय से हम मनुष्य की समाज-विरोधी प्रवृत्ति तथा संवेग में परिवर्तन ला सकते हैं। अवसर न प्राप्त होने से प्रवृत्ति तथा संवेग मन्द हो जाता है। इस विधि का अत्यन्त स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता है। अवसर मिलने पर मन्द संवेग पुनः वेग प्राप्त कर सकता है; परन्तु यह विधि दमन विधि से अच्छी है।

[३] **मार्गान्तरीकरण**—मूल-प्रवृत्तियों तथा संवेगों में परिवर्तन तथा विकास लाने का अत्यन्त उपयोगी तथा दोष-रहित उपाय मार्गान्तरीकरण है। इस विधि में हम संवेग अथवा प्रवृत्ति का प्रवाह अनुचित दिशा से उचित दिशा में कर देते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपनी संग्रह-प्रवृत्ति अथवा स्वामित्व-भाव (Owner-ship) की तुष्टि दूसरों की वस्तुओं को चुरा कर करता है, तो हमें यह चाहिये कि उसमें यह धारणा उत्पन्न की जाय अथवा उसके लिए वह साधन उपलब्ध किया जाय, कि वह उन वस्तुओं को अपनी गाढ़ी कमाई से प्राप्त करके अपने स्वामित्व-भाव की तुष्टि करे। यह प्रायः देखा गया है कुछ व्यक्ति अपने साथ के व्यक्तियों को अधिक तड़क-फड़क तथा शान-शौकत से रहता देखकर स्वयं भी वैसा ही रहना चाहते हैं; परन्तु उचित साधन न पाकर चोरी डकैती कत्ल जैसे घृणित कार्य करके अपने आराम तथा विलास की वस्तुएँ प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। ऐसी दशा में यदि उनकी वृत्तियों तथा संवेगों का मार्गान्तरीकरण कर दिया जाय, तो वे ही व्यक्ति समाज-विरोधी कार्यों को छोड़ कर उपयोगी नागरिक बन सकते हैं। वन्दीगृह में अपराधियों की वृत्तियों तथा संवेगों का मार्गान्तरीकरण ही उचित है। बन्दीगृह में निवास दंड देने के लिये नहीं वरन् मार्गान्तरीकरण द्वारा व्यक्ति में सुधार करने के लिये होना चाहिये।

[४] **शोधः**—यह मार्गान्तरीकरण का एक उच्चतम प्रकार है। जब हमारा मार्गान्तरीकरण केवल व्यक्तिगत स्वार्थ तक ही सीमित न रहकर परहित के लिये अधिक अग्रसर हो जाता है, तो हमारा मार्गान्तरीकरण शोध का रूप ले लेता है। यह प्रवृत्तियों तथा संवेगों के विकास की उच्चतम स्थिति है। जब हम धन का संचय इसलिये करते हैं कि हम उससे अस्पताल तथा विद्यालय इत्यादि वनवाना चाहते हैं, तो हमारा संचय शोध का रूप ले लेता है। विनोवा भावे का भूदान-यज्ञ भी शोध का एक अच्छा उदाहरण है, क्योंकि उनका भूमि के रूप में दान मांगना परहित सिद्धि के लिये ही है। पापियों का दमन करना तथा उनके प्रति क्रोध प्रदर्शित करना इस संवेग का शोध ही कहा जायगा। कामवासना का शोध कला काव्य तथा संगीत के रूप में हो सकता है।

[५] **रेचन**—यदि हमारे समाज-विरोधी भाव बहुत समय तक रुके रहें और उनकी तृप्ति हम मार्गान्तरीकरण के उपाय से न कर सकें, तो हमें उनका किसी न किसी प्रकार रेचन करना ही पड़ता है। यदि ऐसा न हुआ, तो वे अवरुद्ध संवेग हमारे अन्दर मानसिक-विकार (Mental Diseases or neuroses) पैदा कर देते हैं। हँसी, मज़ाक, ड्रामा, होली, फूल्स डे (Fool's day) तथा अन्य मनोविनोद के साधन हमारी अवरुद्ध वृत्तियों तथा संवेगों को रेचन प्रदान करते हैं।

यह रेचन-विधि हमारे मानसिक विकारों को दूर करने के लिये उसी प्रकार उपयोगी है, जिस प्रकार सर्जन का आपरेशन शरीर के विकार को दूर करने के लिये उपयोगी है।

(६) अध्यवसाय तथा विवेक:— हमारा अध्यवसाय भी हमारे संवेगों को वश में रखने का अच्छा उपाय है। इसी दृष्टि से अंग्रेज़ी में एक कहावत बहुत प्रचलित है कि खाली दिमाग शैतान का घर होता है (An idle mind is devil's workshop)। अध्यवसाय अथवा रोज़गार के अतिरिक्त हमारा विवेक भी हमारे संवेगों के लिये उचित पथ-प्रदर्शन का कार्य करता है। जिसमें जितना ही विवेक कम होता है, उतना ही अधिक वह संवेग के अनुचित प्रवाह में वह जाता है। संवेग का विवेक द्वारा पूर्ण नियन्त्रण ही व्यक्ति तथा समाज के लिये हितकर सिद्ध होता है। उत्तेजना (Stimulus) और संवेगात्मक प्रतिक्रिया (Emotional Reaction) के बीच में विवेक का प्रयोग करना ही व्यक्तिगत साधना की स्थिति है। विवेक की लगाम ही मन रूपी घोड़े को ठीक से नियंत्रण में रख सकती है। उसको शिथिल करना घोड़े तथा सवार दोनों के लिये घातक है।

प्रश्न

१—संवेदन और संवेग में क्या अन्तर है ? संवेग किस प्रकार हमारे जीवन पर प्रभाव डालते हैं ?

२—संवेगों के प्रकाशन में समाजोचित परिवर्तन लाने के कौन से मनोविज्ञानिक उपाय हैं ?

३—संवेगों की अबाध अभिव्यक्ति अपराध का कारण बनता है, उदाहरण देकर सिद्ध कीजिये ?

४—अपराध के अनुसन्धान में संवेगों के शारीरिक लक्षणों से पुलिस कर्मचारी किस प्रकार लाभ उठा सकता है ?

अध्याय ८

स्थायीभाव, इच्छा-शक्ति तथा चरित्र-निर्माण

(Sentiments, will and character-formation)

हम पिछले अध्यायों में उल्लेख कर आये हैं कि मानसिक क्रिया के ज्ञानात्मक, रागात्मक और क्रियात्मक तीन पक्ष होते हैं। जब बच्चा पैदा होता है, तब ये तीनों पक्ष बहुत ही अविकसित दशा में रहते हैं। परन्तु धीरे धीरे व्यक्ति का मन तीनों पक्षों में विकास को प्राप्त होता है। हम यह बता आए हैं कि प्रारम्भ में हमारा क्रियात्मक तथा रागात्मक जीवन हमारी मूल-प्रवृत्तियों तथा उनसे सम्बन्धित संवेगों से संचालित होता है, परन्तु हम बहुत दिन तक उसी दशा में नहीं पड़े रहते हैं। हमारे जीवन के रागात्मक पक्ष का विकास होता है। हमारा जीवन केवल संवेगों से ही नहीं वरन् उनके संगठन से बने हुए मानसिक संस्कारों से प्रभावित होने लगता है और हमारा जीवन स्तर पहले से कुछ ऊपर उठ जाता है। अब हम यह विचार करेंगे कि संवेगों के संगठन से

किन मानसिक संस्कारों की उत्पत्ति होती है और वे किस प्रकार हमारे जीवन के आदर्श को ऊपर उठाते हैं।

स्थायी भाव (Sentiment):—हम अपने संवेगों को किसी न किसी वस्तु, व्यक्ति तथा विचार के प्रति प्रकट करते हैं। इस प्रकार हम जीवन में कुछ विशेष वस्तुओं, व्यक्तियों तथा विचारों को चुन लेते हैं जिनके प्रति हम प्रायः अपने संवेग प्रकट करते हैं। ऐसा बार बार करने से उन वस्तुओं, व्यक्तियों तथा विचारों के प्रति हमारे संवेग संगठित हो जाते हैं, जिसके कारण उन वस्तुओं, व्यक्तियों तथा विचारों में यह शक्ति आ जाती है कि वे हमारे संवेगों को सरलता पूर्वक प्रवाहित कर दें। इस प्रकार हमारे संगठित संवेग हमारे मन में ऐसे प्रभाव पैदा कर देते हैं कि हमारा जीवन उन वस्तुओं, व्यक्तियों तथा विचारों के सम्बन्ध में बने हुये संस्कारों के द्वारा संचालित होने लगता है। किसी वस्तु अथवा व्यक्ति अथवा विचार के प्रति संवेगों के संगठन से उत्पन्न मानसिक संस्कार को हम स्थायी-भाव कहते हैं। हमारे जीवन के रागात्मक पक्ष के विकास में संवेग प्रथम सोपान है और स्थायी-भाव दूसरा। उदाहरण के रूप में हमारी माता का हमारे जीवन में बहुत अधिक महत्व होता है, इस कारण हमारा प्रेम तथा श्रद्धा इत्यादि अनेक संवेग उसके प्रति संगठित हो जाते हैं और हमारे मन में माता के प्रति एक स्थायी-भाव उत्पन्न हो जाता है। इस स्थायी-

भाव के कारण ही हम माता की प्राण-रक्षा तथा उसके सम्मान की रक्षा के लिये इतने व्यग्र रहते हैं तथा बाधा पहुँचने पर प्राण तक की बाजी लगा देते हैं। इसी प्रकार हमारे मन में अपने गांव, जाति, धर्म तथा ईमानदारी, सच्चाई इत्यादि सद्‌गुणों के प्रति भी स्थायी-भाव बन जाते। ये स्थायी भाव हमारे क्रियात्मक जीवन को बल प्रदान करते रहते हैं, नहीं तो हमारे कार्यों में इतनी सजीवता तथा स्फूर्ति न दिखाई पड़े। स्थायी-भाव के निर्माण में दो मुख्य बातों को ध्यान में रखना चाहिये। सर्वप्रथम जिस वस्तु अथवा व्यक्ति अथवा विचार अथवा गुण के प्रति स्थायी भाव बनाना हो उसका स्पष्ट ज्ञान होना चाहिये। यदि हम उसे जानते ही नहीं तो उसके प्रति स्थायी भाव नहीं बन सकता है। जैसे यदि हमें पं० जवाहरलाल नेहरू तथा उनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट ज्ञान नहीं है, तो हमारे मन में उनके प्रति कभी भी स्थायी भाव नहीं बन सकता है। स्थायी भाव के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि वस्तु, व्यक्ति तथा गुण के प्रति संवेगों का प्रकटीकरण भी बार बार होना चाहिये; तब यह संभव होगा कि उस वस्तु तथा व्यक्ति अथवा गुण के प्रति दृढ़ रागात्मक संस्कार हमारे मन में बन जांय और हमारे अन्दर उसके प्रति स्थायी-भाव बन जाय।

हमारे मन में पहले स्थूल पदार्थों के प्रति स्थायी-भाव बनते हैं फिर विचारों तथा गुणों के प्रति स्थायी-भाव बनते हैं।

उदाहरण के रूप में पहले हमारे मन में महात्मा गांधी, पं० जवाहर लाल नेहरू जैसे देश भक्तों के प्रति स्थायी भाव बनते हैं; इसके पश्चात् उन व्यक्तियों में पाये जाने वाले गुण, देश-भक्ति के प्रति स्थायी भाव बनता है। हमारे मन का यह सामान्य नियम भी है कि उसमें विकास साधारणतया स्थूल से सूक्ष्म की ओर ही होता है। यदि हम चाहते हैं कि हमारे मन में सफाई के प्रति स्थायी भाव बनें, तो हमें पहले अपने वस्त्रों, शरीर तथा घर इत्यादि की सफाई के प्रति स्थायी-भाव बनाना चाहिये। यदि हम चाहते हैं कि हम सत्यवादी बन जायें, तो हमें चाहिये कि हम देश अथवा संसार के सत्यवादी पुरुषों तथा उनके आदर्शों के प्रति प्रेम तथा श्रद्धा इत्यादि उत्पन्न करके स्थायी-भाव निर्माण करें।

आत्म-सम्मान का स्थायी–भाव (Self-Regarding Sentiment.):—यह दूसरे अध्याय में बता आये हैं कि हमारे मन में एक सम्बन्धीकरण (Cohesion) की शक्ति है। यह शक्ति हमारे मन के अनेक संस्कारों में सम्बन्ध स्थापित करके अनेकता में एकता (Unity in Diversity) लाने का प्रयत्न करती है। जिस प्रकार हमारे अनेक संवेग एक स्थायी-भाव के रूप में संगठित होकर अनेकता में एकता प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार हमारे सब स्थायी-भाव आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव (Self-Regarding Sentiment) के अन्तर्गत संगठित होकर

अपनी अनेकता में एकता उत्पन्न करते हैं। जब हमारे मन में आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव बन जाता है और उसके अन्तर्गत सब-स्थायी भाव संगठित हो जाते हैं, तब हमारे अन्दर एक पुष्ट व्यक्तित्व का निर्माण होता है। और तभी हमारे कार्यों में एक सुव्यवस्था का जन्म होता तथा हमारे व्यवहारों में एकसापन (One type) आता है। आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव के निर्माण होने पर ही हमारे जीवन का आदर्श निश्चित हो जाता है और हमें यह विश्वास हो जाता है कि अमुक परिस्थिति में हम अमुक कार्य करेंगे तथा अन्य लोग भी हमारे आचरण के विषय में अपनी राय कायम करने लगते हैं। प्रत्येक मनुष्य का आत्मसम्मान का स्थायी-भाव अलग अलग ढंग का होता है और वह उसके अनुसार ही आचरण करता है। एक साधु पुरुष तथा एक अपराधी के आचरण में अन्तर इसलिये है कि दोनों के आत्मसम्मान के स्थायी-भावों में अन्तर है। साधु पुरुष जिन कार्यों के करने को अपने आत्म-सम्मान के विपरीत समझता है, अपराधी पुरुष उन्हीं कार्यों के करने में अपना आत्म-सम्मान समझता है। जीवन के प्रति यही भिन्न भिन्न दृष्टिकोण उनके आचरण में भेद उत्पन्न कर देता है। इस आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव में ही ऐसी शक्ति है कि अन्य स्थायी भाव इसके अन्तर्गत संगठित हो जाते हैं। यही स्थायी-भाव अन्य स्थायी-भावों का स्वामी बनने योग्य है। इसलिए आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव को स्वामी स्थायी-भाव (Master

of Sentiment) भी कहते हैं।

आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव का निर्माण:— अब एक प्रश्न हमारे सामने यह आता है कि इस स्थायी भाव का निर्माण किस प्रकार होता है और इसकी रचना में क्या विशेषता है कि अन्य स्थायी-भाव इसके नियंत्रण में रहते हैं ?

जिस प्रकार अन्य स्थायी भाव किसी वस्तु, व्यक्ति तथा गुण के प्रति बनते हैं, उसी प्रकार आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव 'स्व' (Self) के सम्बन्ध में बनता है। हम जैसा अपने को समझते हैं, वैसा ही हमारा आत्म-सम्मान का स्थायी भाव होता है अथवा इस बात को इस प्रकार कह सकते हैं कि जिन गुणों को हम अपने 'स्व' में पाते हैं, उन्हीं के प्रति हमारे अन्दर आत्म-सम्मान जागृत होता है और वे ही गुण हमारे आत्म-सम्मान के स्थावी-भाव के अंग होते हैं; उन्हीं गुणों के प्रति हमारे अन्दर आदर होता है और उन्हीं की रक्षा के लिये हम सक्रिय होते हैं।

यहाँ पर यह भी जान लेना आवश्यक है कि हमारे 'स्व' में केवल वही गुण नहीं होते हैं जिन्हें हम अर्जित करते हैं, वरन् वे गुण भी हमारे लिये मान्य हो जाते हैं, जिन्हें समाज हमारे अन्दर समझता है। जैसे यदि हम किसी व्यक्ति को चोर या झूठा कहते हैं, तो वह व्यक्ति अपने 'स्व' के अन्दर चोर और झूठे होने के

गुण का भी अनुभव करने लगेगा और कुछ दिन पश्चात् वह अपने को चोर और झूठा सिद्ध करने में ही आत्म-गौरव समझेगा। हमारा 'स्व' केवल हमारे द्वारा ही उत्पन्न नहीं वरन समाज की भी देन है; अर्थात् हमारे प्रति जो समाज के विचार हैं, उन्हें हम अपने अन्दर भी समझने लगते हैं। हमारे 'स्व' का और भी अधिक विकास हो जाता है, जब हम केवल उन्हीं गुणों को अनुभव नहीं करते हैं जो हमारे 'स्व' में है वरन् हम अपने अन्दर उन गुणों को भी लाना चाहते हैं जो हमारे लिए आदर्श हैं। इस प्रकार हमारा आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव 'स्व' (Self) के प्रति ही नहीं वरन् आदर्श 'स्व' (Ideal Self) के प्रति भी बन जाता है। इस उच्चता पर पहुँचे हुए आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव के अन्दर बड़ी सम्पन्नता आ जाती है, और वह अनेक गुणों के स्थायी-भावों को अपने अन्दर समाविष्ट अथवा संगठित कर लेता है। इस सम्बन्ध में यह भी समझ लेना आवश्यक है कि यदि किसी गुण के प्रति स्थायी-भाव बन जाता है, तो यह बात आवश्यक नही है, कि वह हमारे आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव का अंग भी बन जाय। उदाहरण के रूप में हमारे अन्दर किसी वीर पुरुष अथवा वीरता के गुण के प्रति स्थायी-भाव हो सकता है; परन्तु वह तब तक हमारे आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव का अंग नहीं कहलायेगा, जब तक हम स्वयं वीर बनने का प्रयत्न संवेग के साथ न करें; यही नहीं हमारा सम्पूर्ण जीवन वीरता से ओत-प्रोत होना चाहिये। स्थायी-

भाव जीवन के एक पक्ष को प्रभावित करता है और आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव सम्पूर्ण-जीवन को आत्म-सात कर लेता है।

इसलिए आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव का हमारे चरित्र-निर्माण तथा व्यक्तित्व के संगठन में विशेष हाथ है।

भावना-ग्रन्थि (Complex):—हमारे जिन संवेगों को किसी वस्तु, व्यक्ति तथा गुण के सम्बन्ध में प्रकाशित होने का अवसर मिलता है, उनके द्वारा हमारे चेतन मन में स्थायी-भावों का संगठन होता हैं। परन्तु इस संसार में हम अपने सब संवेगों को प्रकट नही कर पाते हैं, उनका दमन कर दिया जाता है। ये दबे हुये संवेग तथा भावनाएँ हमारे चेतन मन से बहिष्कृत होकर अचेतन मन (Unconcious mind) में चली जाती हैं, और वहां पर अपना गुप्त (Under Ground) संगठन बनाती हैं; उसे स्थायी-भाव न कहकर भावना-ग्रन्थि (Complex) कहते हैं।

भावनाग्रन्थियों का यहां पर उल्लेख इसलिए किया गया है कि ये दबी हुई भावनाएँ भावना-ग्रन्थियों के रूप में सबल हो जाती हैं और अवसर पाने पर हमारे चेतन व्यवहारों में वाधा पहुँचाती हैं; अर्थात् चेतन मन में संगठित हमारे व्यक्तित्व को छिन्न-भिन्न करने का प्रयत्न करती हैं अथवा हमारे अन्दर कोई मानसिक रोग उत्पन्न कर देती हैं। जिससे हमारे व्यवहारों में बड़ी विक्षिप्तता अथवा असामान्यता (Abnormality)

आ जाती है। स्थायी-भाव चेतन मन में प्रकाशन पाये हुये संवेगों का संगठन है और भावना ग्रन्थियां दबे हुये संवेग तथा इच्छाओं का अचेतन मन में संगठित होने का परिणाम हैं। ये भावना-ग्रन्थियां भिन्न-भिन्न रूप में हमारे व्यक्तित्व के विकास में बाधक सिद्ध होती है। उदाहरण के रूप में यदि हमारे संरक्षक हमारे ऊपर अत्यन्त कठोरता का व्यवहार करते हैं, तो हमारे अन्दर ही अन्दर एक विद्रोह भावना उत्पन्न होती है; परन्तु सामाजिक आदर्श के कारण हम उसे व्यक्त करने में संकोच करते हैं। इस विद्रोह-भावना का नाश नहीं होता है। यह अचेतन मन में घर कर लेती है और अन्य दबे हुये संवेगों तथा इच्छाओं के साथ एक भावना-ग्रन्थि की सृष्टि करती है, जिसे हम प्रायः शासन-भावना-ग्रन्थि कहते हैं जो अवसर पाने पर ज्वालामुखी की तरह विस्फोट करती है और व्यक्ति अपने संरक्षक के प्रति केवल अनुचित व्यवहार ही नहीं करता है वरन् समस्त शासन के प्रति विद्रोह करता है और समाज-व्यवस्था में एक गड़बड़ी पैदा करने का प्रयत्न करता है। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि ये भावना-ग्रन्थियां व्यक्ति को किस प्रकार एक विशेष प्रकार का आचरण करने के लिए वाध्य कर देती हैं।

इसी प्रकार काम-भावना-ग्रन्थि (Sex Complex) तथा हीनता की भावना-ग्रंथि (Inferiority Complex) का भी हमारे चरित्र पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

इच्छा-शक्ति (Will)

जिस प्रकार हमारे चरित्र के विकास के लिये हमारे अन्दर आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव का होना आवश्यक है, उसी प्रकार हमारे चरित्र को सबल बनाने के लिए इच्छा-शक्ति की भी अत्यन्त आवश्यकता है। सबल इच्छा-शक्ति रखने वाले व्यक्ति विघ्न बाधाओं को पार करते हुए अपने आदर्शों की रक्षा कर लेते हैं; परन्तु निर्बल इच्छा-शक्ति के व्यक्ति सदा मन्सूबे ही बांधा करते हैं और अवसर आने पर अपने कर्त्तव्य एवं आदर्श पर आरूढ़ नही रह पाते हैं। इस प्रकार जिस व्यक्ति में इच्छा-शक्ति की दृढ़ता नहीं, उसका चरित्र कभी भी सबल नहीं हो सकता है। वह अपने को सदैव निर्बल-चरित्र का व्यक्ति सिद्ध करेगा।

अब हमें यह विचार करने की आवश्यकता है कि इच्छा-शक्ति है क्या, उसकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है, और इसमें इतनी शक्ति कहां से आती है कि हम इसके द्वारा अपनी प्रबल से प्रबल प्रवृत्तियों को पराजित करके अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर होते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि इच्छा-शक्ति मन की स्वतन्त्र शक्ति है जो हमारे लिये कई विरोधी मार्गों में एक को चुनने में सहायता करती है। परन्तु कुछ लोगों का कहना है कि यह हमारे आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव की ही

शक्ति है। संगठन से शक्ति उत्पन्न होती है; हमारे आदर्श 'स्व' (Ideal self) के स्थायी-भाव के अन्तर्गत हमारी सब प्रवृत्तियों, आदतों, गुणों तथा आदर्शों का संगठन होता है। अतः जब आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव का संगठन हो जाता है, तो उससे एक शक्ति का स्फुरण होता है जिसे हम इच्छा-शक्ति कहते हैं। यह हमारे आचरण की दिशा निर्धारित करती है। हमारे अन्दर जितना ही 'आदर्श-स्व' अथवा आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव पुष्ट होगा उतनी ही हमारी इच्छा-शक्ति प्रबल होगी।

इच्छा-शक्ति की कई विशेषताएँ हैं। सर्व प्रथम जब हमारे समक्ष कोई समस्या आ जाती है और उसके सुलझाने के लिए कई उपाय होते हैं, तो यह हमें निर्णय करने में सहायता करती है कि हम कौन सा उपाय चुनें। उस समय यह पथ-प्रदर्शन करती है कि स्वार्थ का मार्ग चुनें या परार्थ का। हमारा मानसिक संघर्ष इसी के द्वारा मिटाया जाता है और उचित मार्ग का अनुसरण सम्भव होता है।

इसकी दूसरी विशेषता यह है कि यह हमारे उद्देश्य की प्राप्ति में किये गये प्रयत्न को बल प्रदान करती है। जिसकी इच्छा-शक्ति जितनी दृढ़ होती है, उतना ही वह अपने प्रयत्न तथा सफलता पर विश्वास रखता है। तीसरी विशेषता यह है कि यह बाधाओं के समक्ष भी हमें अडिग रखती है। इच्छा-शक्ति की सबलता पर

ही हम सरल मार्ग के बजाय कठिन मार्ग का अनुसरण करते हैं और अपने आदर्शों की रक्षा में तत्पर रहते हैं। इसकी चतुर्थ विशेषता यह है कि यह हमारे संकल्पों को कार्य रूप में परिणित करती है; और उनको पूरा करने के लिये अतिरिक्त शक्ति प्रदान करती है। इसलिए अंग्रेजी में एक कहावत है कि जहां पर इच्छा-शक्ति है वहां पर कार्य-सम्पादन का रास्ता अवश्य निकल आयेगा (Where there is a will, there is a way)

चरित्र-निर्माण

(Character–Formation)

हमारा नैतिक आचरण जिन मानसिक संस्कारों द्वारा निश्चित होता है, उन सबके संगठित स्वरूप को हम चरित्र कहते हैं। इस संगठन में हमारी वे सभी वृत्तियां आ जाती हैं जो हमें सामाजिकता एवं नैतिकता की ओर ले जाती है। यदि हमारा आचरण नैतिक दृष्टि से गिरा हुआ है, तो हमारा चरित्र बुरा कहलाता है। हमारा चरित्र केवल किसी एक प्रवृत्ति का फल नहीं है। हमारी समस्त मूल-प्रवृत्तियां, आदतें तथा स्थायी-भाव जो कुछ हमारे मन में संस्कार उत्पन्न करते हैं उन सब का प्रतिफल हमारा चरित्र है।

मैकडूगल ने चरित्र के विकास के चार सोपान बताए हैं:-

[क] सुख दुःख से नियंत्रित चरित्र।

[ख] पारितोषिक और दंड से नियंत्रित चरित्र।
[ग] प्रशंसा तथा निन्दा से नियंत्रित चरित्र।
[घ] आदर्श से निर्धारित चरित्र।

(क) सुख-दुख से नियंत्रित चरित्र—सर्व प्रथम बालक के जीवन में आचरण को निर्धारित करने वाला सुख-दुख है। सुख-दुख में ही उसका चरित्र निहित है अर्थात् जिन कामों में सुख का अनुभव होता है, उन्हें वह करता है और जिनमें दुःख का अनुभव होता है उन्हें वह छोड़ता है। इस अवस्था में मनुष्य का आचरण मूल-प्रवृत्यात्मक होता है। इसमें व्यक्तिगत स्वार्थ सब के ऊपर होता है। यहां पर चरित्र इन्द्रियानुभव की अवस्था में ही रहता है।

(ख) पारितोषिक और दण्ड से नियंत्रित चरित्र—चरित्र के नियंत्रण के दूसरे साधन पारितोषिक और दण्ड हैं। यहां पर आचरण को निर्धारित करने वाली शक्ति आन्तरिक न होकर बाहरी अधिक है। हम किसी कार्य को प्रायः इनाम की आशा से अथवा किसी प्रलोभन में आकर करते हैं, जो किसी बाहरी ऐजेन्सी के द्वारा दिया जाता है। इसी प्रकार हम दूसरे के द्वारा दंडित किए जाने के भय से कुछ कार्य नहीं करते हैं अथवा उससे छिपकर करते हैं। चरित्र की यह स्थिति अधिक अच्छी नहीं कही जाती है, क्योंकि बाहरी प्रलोभन तथा भय के अभाव में आचरण कुछ का कुछ हो जाता है। बहुत से लोगों का चरित्र इसी

अवस्था में स्थिर हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों में आन्तरिक प्रेरणा क्षीण रहती है, केवल बाहरी प्रलोभन तथा दण्ड चरित्र को निर्धारित करता है।

(ग) प्रशंसा और निन्दा से नियंत्रित चरित्र—चरित्र निर्माण का तीसरा सोपान वह है जब व्यक्ति का चरित्र दूसरे की प्रशंसा अथवा निन्दा से निर्धारित होता है। सुख-दुख और पारितोषिक-दण्ड जब तक हमारे आचरण को निर्धारित करते रहते हैं, हमारा चरित्र बहुत निम्न स्तर पर रहता है। परन्तु जब हम अपने से बड़े व्यक्तियों तथा समाज की प्रशंसा का ध्यान रखकर अपने आचरण की दिशा निश्चित करते हैं, तब समझना चाहिये कि हमारे अन्दर नैतिकता का उदय हो गया है। इसी प्रकार हम उन कार्यों से भी बचने की कोशिश करते हैं; जिनसे हम समझते हैं कि हमारे अभिभावक अथवा समाज हमारी निंदा करेंगे। यह स्थिति प्रायः हमारे अन्दर तब आती है, जब हमारे अन्दर सत्पुरुषों के प्रति अथवा सद्गुणों के प्रति स्थायी-भाव बन जाते हैं। समाज की प्रशंसा की अवहेलना करने वाला अथवा समाज की निंदा की परवाह न करने वाला ही व्यक्ति प्रायः समाज-विरोधी कार्य तथा अपराध करता है। चरित्र की यह दशा अत्यन्त उच्च नहीं कही जा सकती है; क्योंकि इसमें भी प्रेरक-शक्ति व्यक्ति के बाहर समाज की प्रशंसा तथा निंदा के रूप में है। चरित्र की उच्चतम अवस्था तभी हो सकती है जब नियंत्रण आन्तरिक हो।

(घ) आदर्श से निर्धारित चरित्र—चरित्र की उच्चतम अवस्था तब प्राप्त होती है, जब व्यक्ति के अन्दर केवल 'स्व' के प्रति ही नहीं वरन् 'आदर्श-स्व' के प्रति अनुराग उदय हो जाता है और जब वह बड़ी व्यग्रता के साथ अपने आदर्शों को प्राप्त करने की कोशिश करता है। यह दशा आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव बनने पर उपस्थित होती है। जैसा हमारा आदर्श होगा, वैसा ही हमारा चरित्र होगा। इस दशा में व्यक्ति केवल अपने आदर्श को प्राप्त करना चाहता है। सुख-दुख, पारितोषिक-दण्ड तथा किसी की प्रशंसा निंदा को गौण स्थान देता है। इस प्रकार के चरित्र में प्रेरणा व्यक्ति के बाहर से नहीं वरन् उसके अन्दर से प्राप्त होती है। व्यक्ति का 'आदर्श-स्व' (Ideal - self) उसके संपूर्ण जीवन को प्रभावित करके उसके चरित्र को पुष्टता प्रदान करता है। चरित्र की इस उत्तम अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति पहुँच नहीं पाता है; उसका विकास ऊपर लिखी हुई तीन अवस्थाओं में ही स्थिर रह जाता है।

अब एक प्रश्न यहां यह भी उठता है कि क्या अपराधी का चरित्र इस उच्चावस्था तकनही पहुँचता है? क्या केवल एक महात्मा ही इस अवस्था तक पहुँचता है? महात्मा और दुष्टात्मा दोनों में चरित्र होता है; केवल दोनों में जीवन के प्रति दृष्टिकोण में अन्तर है। एक का आदर्श ईश्वर का साक्षात्कार और मानव-सेवा है और दूसरे का आदर्श समाज

के प्रति विद्रोह तथा समाज-पीड़ा। यही कारण है कि एक महात्म के आचरण में हम देवताओं के आचरण की नकल पाते हैं और अपराधी एवं दुष्टात्मा के आचरण में राक्षसी आचरण क छाया मिलती है। हमारा 'आदर्श-स्व' कैसा है, उसी के अनुसा हमारा चरित्र बनता है। समाज-सुधारक को केवल इतना ही ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि व्यक्ति का 'आदर्श-स्व' बहुत अच्छा बने, तभी आत्म-सम्मान का स्थायीभाव भी उत्तम होगा और तभी चरित्र भी अच्छा होगा।

चरित्र निर्माण के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातें:—

हमारे चरित्र के सर्व प्रथम प्रेरक हमारी मूल प्रवृत्तियां हैं। इसीलिये हमें यह देखना चाहिये कि हमारी मूल-प्रवृत्तियों का प्रकाशन उचित दिशा में हो, जिससे हमारा चरित्र समाज-विरोधी दिशा में न प्रवाहित होने पावे।

चरित्र के सम्बन्ध में दूसरी ज्ञातव्य बात अच्छी आदतों का निर्माण है। मनुष्य को आदतों का बन्डल (Bundle of Habits) कहा गया है। यद्यपि आदतें अर्जित होती हैं और बुरी होने पर छुड़ाई भी जा सकती हैं; परन्तु यह अवस्था ही क्यों आने पावे। हमें प्रारम्भ से ही अच्छी आदतों का निर्माण करना चाहिये।

तीसरी बात ध्यान देने योग्य है कि हमारे अन्दर पहले

अच्छे स्थूल पदार्थों अथवा व्यक्तियों के प्रति स्थायी-भाव बनें। संसार के जितने महापुरुष हो गये हैं उनके प्रति हमारा प्रेम हो, और उनके प्रति स्थायी-भाव बनाए जायें, जिससे हमें अपने चरित्र के निर्धारण के लिये उचित उदाहरण सदा हमारे सामने उपस्थित रहे और उन महापुरुषों का जीवन हमारे लिये सदा पथ-प्रदर्शन का कार्य करता रहे।

जब हम अपने अन्दर सद्पुरुषों के प्रति स्थायी-भाव बना लेते हैं तो हमारे अन्दर सद्गुणों के प्रति भी स्थायी-भाव बन जाते हैं। इसके पश्चात् हमारे अन्दर एक 'आदर्श—स्व' के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है और हमारे अन्दर जो 'आदर्श-स्व' के प्रति स्थायी-भाव बनता है, वह हमारे सारे चरित्र को उन्नत तथा आदर्श कर देता है।

चरित्र निर्माण में विध्वंसकारी प्रभाव को रोकना चाहिये। सबसे अधिक बाधा डालने वाली हमारे अज्ञातमन में बनी हुई भावनाग्रन्थियाँ (Complexes) है जो हमारे व्यवहार को अन-जाने प्रभावित करती रहती हैं और कभी कभी तो वे मानसिक रोग उत्पन्न करके हमारे समस्त मानसिक संतुलन को ही नष्ट-भ्रष्ट कर देती हैं। ऐसी दशा में चरित्र की उत्तमता अत्यन्त खतरे में पड़ जाती है। इस बात का स्पष्टीकरण ग्यारहवें अध्याय में किया जायगा।

चरित्र-निर्माण में हमें व्यक्ति की जन्मजात विशेषताओं का

भी ध्यान रखना पड़ता है; जैसे कुछ व्यक्ति स्वभाव से अन्तर्मुखी होते हैं और कुछ वहिर्मुखी। अतः उनके चरित्र का विकास इन जन्म-जात गुणों को ध्यान में रखकर करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि सबमें बुद्धि बराबर नहीं होती है। मन्द बुद्धि के व्यक्ति में उच्चतम आदर्श की कल्पना की शक्ति नहीं हो सकती है। अतः हम उससे उच्चतम आदर्शमय जीवन की आशा नहीं रख सकते हैं।

चरित्र के विषय में ऊपर हमने व्यक्ति की गर्भित शक्ति तथा उसके उचित विकास का उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध में हमें यह न भूलना चाहिये कि व्यक्ति का विकास मनुष्य की अपनी मानसिक शक्ति तथा वातावरण की सम्मिलित-क्रिया का प्रतिफल है। अतः चरित्र के विकास में उचित वातावरण का बहुत ही बड़ा महत्व है। बहुत से व्यक्तियों का व्यवहार अपराध में बदल जाता है, क्योंकि वे अपराध के वातावरण में ही पलते हैं। वे जानते ही नहीं हैं कि सफल अपरधी बनने के अतिरिक्त मनुष्य का अन्य आदर्श क्या होता है। इस सम्बन्ध में अपराधी जातियों का उदाहरण आपके समक्ष उपस्थित किया जा सकता है। चरित्र के विकास में हमारी इच्छा-शक्ति का भी बहुत बड़ा महत्व है। चरित्र-पतन तथा सबल सांसारिक प्रलोभनों से हमारी इच्छा शक्ति ही हमें बचाती है। यदि हमारी इच्छा-शक्ति प्रबल होती है, तो हम सब विघ्न-बाधाओं को झेलते हुये भी

अपने कर्त्तव्य को सबसे ऊँचा स्थान देते हुये आदर्श की रक्षा करते हैं।

प्रश्न

१—स्थायी-भाव किसे कहते हैं, उसका निर्माण किस प्रकार होता है ? अच्छे स्थायीभावों का निर्माण किस प्रकार हमारे जीवन को उन्नत करता है ?

२—'आत्मसम्मान' का स्थायीभाव किस प्रकार बनता है ? यह किस प्रकार हमारे व्यक्तित्व तथा चरित्र के प्रकार को निश्चित करता है ?

३—इच्छा शक्ति किसे कहते हैं, इससे हमारे चरित्र के निर्माण में क्या सहायता मिलती है ?

४—भावनाग्रंथियाँ किसे कहते हैं, ये किस प्रकार हमारे व्यक्तित्व में विच्छेद उत्पन्न करती हैं ?

५—अच्छे चरित्रनिर्माण के क्या मनोवैज्ञानिक उपाय हैं, उनकी व्याख्या कीजिये।

अध्याय ९

मन के ज्ञानात्मक पक्षका विकास

(Dovelopment of cognitive aspect of mind)

पिछले कई अध्यायों में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि व्यक्ति के मन के क्रियात्मक (Conative) और रागात्मक (Affective) पक्ष का किस प्रकार विकास होता है। अब इस अध्याय में यह देखना है कि व्यक्ति के ज्ञानात्मक पक्ष का किस प्रकार विकास होता है।

प्रत्यक्ष-ज्ञान

ज्ञानात्मक पक्ष का सर्व प्रथम स्तर हमारा प्रत्यक्ष-ज्ञान है। जब हम किसी पदार्थ का ज्ञान अपनी ज्ञानेन्द्रियों के समक्ष उपस्थित होने के कारण प्राप्त करते हैं तो उसे हम प्रत्यक्ष-ज्ञान की श्रेणी में लेते हैं। उदाहरण के रूप में यदि कोई कुत्ता हमारी आँखों के सामने है, तब जो कुछ उसके विषय हमें ज्ञान होता है वह हमारा कुत्ते के विषय में प्रत्यक्ष ज्ञान कहलायेगा। यदि हम

कुत्ते को बिना देखे उसका ज्ञान रखते है, तो वह ज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञान की श्रेणी के ऊपर का ज्ञान हैं। इस प्रत्यक्ष ज्ञान के दो सोपान हैं:—

१—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान (Sensation)

२—सविकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान (Perception)

हमारी इन्द्रियाँ जो कुछ ज्ञान मस्तिष्क तक अपनी ज्ञान तन्तुओं से ले जाती है उसे हम निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान कहते हैं, क्योंकि इन्द्रियों में विकल्प करने की शक्ति नहीं होती है; असली देखने वाला अथवा गुणों को समझने वाला तो मन ही है। यद्यपि हमारी आंख कुत्ते को देख रही है, परन्तु कुत्ते के आकार रूप रंग इत्यादि को तो हमारा मन ही समझ सकता है। इसलिये जितना ज्ञान इन्द्रियों तक सीमित रहता है, उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान (Sensation) कहते हैं। परन्तु ज्यों ही इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त इस ज्ञान को मन सगुणता प्रदान कर देता है, त्यों ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान (Perception) में बदल जाता है। असल में हमारे अनुभव में केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान (Pure sensation) कभी नहीं आता है; हमें केवल सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान का ही अनुभव होता है। अतः सामान्य रूप में सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान को ही हम असली प्रत्यक्ष-ज्ञान कहते हैं।

स्मरण तथा पहचान

(Memory and Recognition)

यदि हम किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेते हैं, तो वह अनुभव हमारे मन में संचित रहता है। उसी के आधार पर जब हम फिर कभी उस पदार्थ को देखते है, तो उसे पहचान जाते हैं। इस क्रिया को हम पहचानना अथवा स्मरण कहते हैं। यदि यह शक्ति हमारे मन में न होती, तो हमारे ज्ञानात्मक पक्ष का विकास बहुत कुछ सीमित हो जाता। हमारा पूर्व अनुभव हमारे किसी काम न आता। जब स्मरण की शक्ति अधिक विकसित हो जाती है, तब हम केवल स्थूल पदार्थों (Concrete objects) को ही स्मरण नहीं रखते वरन् विचारों को भी स्मरण रख सकते हैं। आज हम वेदों को न पाते, यदि हमारे पूर्वज उनको स्मरण न रख सकते। इस स्मरण-शक्ति पर मनुष्य का ज्ञानात्मक विकास बहुत कुछ निर्भर है। स्मरण द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञान से ऊपर के स्तर का है।

कल्पना

(Imagination)

जब किसी पदार्थ के प्रति हमारा प्रत्यक्ष-ज्ञान पुष्ट हो जाता है, तो यह आवश्यकता नहीं होती है कि वह पदार्थ बारबार हमारी ज्ञानेन्द्रियों के सम्मुख आवे, तभी हम उसका अनुभव कर सकें।

जैसे कुत्ते का प्रत्यक्ष-ज्ञान हो जाने पर यह आवश्यक नहीं है कि कुत्ता सदैव हमारे सम्मुख रहे, तभी हम उसका अनुभव कर सकें। हम साक्षात् कुत्ते के स्थान पर उसकी प्रतिमा (Image) अपनी चेतना में रखकर कुत्ते की उपस्थिति जैसा अनुभव प्राप्त कर लेते हैं। किसी पदार्थ की अनुपस्थिति में उसकी प्रतिमा के द्वारा जो ज्ञान हम प्राप्त करते हैं, उसे हम कल्पना कहते हैं। इस प्रकार हमारे प्रत्यक्ष-ज्ञान का स्थान हमारी कल्पना ले लेती है।

कल्पना द्वारा प्राप्त ज्ञान का स्तर प्रत्यक्ष ज्ञान से ऊपर का है, क्योंकि इस कल्पना में यह आवश्यक नहीं है कि हमारी प्रतिमा प्रत्यक्ष ज्ञान के साक्षात पदार्थ से ज्यों की त्यों मिलती हो। वह प्रतिमा साक्षात् पदार्थ से भिन्न तथा अधिक सम्पन्न (Rich) हो सकती है। कल्पना में किसी पदार्थ का ज्ञान उसकी प्रतिमा के द्वारा आदानात्मक (Receptive) रूप में ही नहीं वरन् रचनात्मक (Creative) रूप में भी होता है। कल्पना की शक्ति से ही हमारे मन में प्रत्यक्ष-ज्ञान से आगे बढ़कर रचना का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु कल्पनात्मक ज्ञान भी ज्ञानात्मक पक्ष का पूर्ण विकास नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें भी प्रतिमा का सहारा लेकर चलना पड़ता है।

यहां पर स्मृति और कल्पना का भेद भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है। स्मृति में प्रतिमा का होना आवश्यक नहीं है तथा

स्मृति में कल्पना की भाँति रचना नहीं होती है। स्मृति का विषय ज्यों का त्यों चेतना में आता है, तोड़ मरोड़ कर अथवा परिवर्तित होकर नहीं।

सामान्य-प्रत्यय

(Concept)

प्रत्यक्ष-ज्ञान के द्वारा जो ज्ञान किसी विशेष पदार्थ का होता है, उसे प्रत्यय-विशेष (Percept) कहते हैं। जैसे हमने जिस कुत्ते को देखा है उसके विषय में जो कुछ हमें ज्ञान है, उसे उस कुत्ते का प्रत्यय-विशेष (Percept) कहेंगे। जब कोई हमारे सामने "कुत्ता" शब्द कहेगा, तो हमारे मन में उसी कुत्ते का प्रत्यय-विशेष (Percept) आ जायेगा। हमारे जीवन में प्रायः ऐसा होता है कि हम अनेक और भिन्न भिन्न प्रकार के कुत्तो का प्रत्यक्ष-ज्ञान करते हैं, जिससे प्रत्येक कुत्ते का प्रत्यय हमारे मन में बनता है । हमारा मन सब कुत्तों के प्रत्यय-विशेषों से कुछ सामान्य गुण चुन लेता है जो सभी कुत्तों में पाये जाते हैं। इस प्रकार कुत्तों का जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे हम सामान्य प्रत्यय कहते हैं। अब जब हमसे कोई कुत्ता शब्द कहता है, तो हमारे मन में किसी विशेष कुत्ते का ज्ञान अथवा प्रत्यय-विशेष सामने नहीं आता है वरन् एक ऐसे कुत्ते का हमें ज्ञान होता है, जिसमें सब प्रकार के कुत्तों के सामान्य लक्षण मौजूद हैं। इस प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने वाली मानसिक क्रिया को सामान्य-

प्रत्यय ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान की अवस्था प्रत्यय-ज्ञान तथा कल्पना से ऊपर की है। इसमें न तो किसी प्रत्यक्ष पदार्थ को ज्ञानेन्द्रियों के सामने उपस्थित होने की आवश्यकता होती है और न किसी पदार्थ की प्रतिमा को। यह ज्ञान की सूक्ष्म स्थिति है, जहाँ पर हम प्रत्यक्ष पदार्थ अथवा उसकी प्रतिमा का सहारा छोड़ देते हैं।

सामान्य-प्रत्यय के बनाने में हमारी भाषा बड़ी सहायता करती है। भाषा का एक एक शब्द एक एक सामान्य-प्रत्यय का पर्याय है। हमें शब्द की सहायता से सामान्य-प्रत्ययों में सम्बन्ध स्थापित करने में भी सरलता प्राप्त होती हैं और हमारी विचार-शक्ति में प्रवाह उत्पन्न हो जाता है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि शब्द का ज्ञान हो गया, तो सामान्य-प्रत्यय बन गया है। सामान्य-प्रत्यय के ज्ञान में बड़ी लम्बी मानसिक प्रक्रिया करनी पड़ती है।

सामान्य-प्रत्ययों के ज्ञान तक पहुचने में व्यक्ति को पाँच सोपानों से गुजरना पड़ता है:—

(क) निरीक्षण (Observation):—निरीक्षण कार्य साधारण देखने की क्रिया से भिन्न है, इससे मनुष्य अंगी (whole) का ही नहीं वरन् अंगी के अंग (Parts) की भी व्याख्या करता है। जैसे किसी व्यक्ति ने एक काला कुत्ता देखा, इसके बाद वह सफेद कुत्ता देखता है, तो वह सफेद कुत्ते को अंगी (Whole)

के रूप में ही नहीं देखता है वरन् सफेद कुत्ते के अंग पर भी ध्यान देता है। इसके अतिरिक्त एक बात और यह है कि इस दशा में सफेद कुत्ता का प्रत्यय-विशेष (Percept) और पहले देखे गये काले कुत्ते की प्रतिमा (Image) दोनों सामान्यतया उस व्यक्ति के मन में रहेंगे। ऐसी दशा में ही हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान निरीक्षण कहलाता है। निरीक्षण हमारे विचार, तर्क तथा निर्णय का एक बहुत उपयोगी आधार है। जब तक हमारा निरीक्षण ठीक नहीं होता है, तब तक हमारे सामान्य-प्रत्यय ठीक नहीं बनते हैं। इसीलिये हमारा तर्क तथा निर्णय भी दूषित रहता है, क्योंकि निरीक्षण के द्वारा ही हमारे मन में ठीक प्रत्यय बनते हैं जो हमारे विचार का आधार हैं।

(ख) **तुलना** (Comparison):—सामान्य-प्रत्यय के निर्माण में दूसरा सोपान तुलना का है। ऊपर दिये गये उदाहरणों में पहले देखे गये काले कुत्ते की प्रतिमा को बाद में देखे गये सफेद कुत्ते के प्रत्यय से तुलना करते हुए व्यक्ति दोनों कुत्तों के समान तथा भिन्न गुणों का ज्ञान प्राप्त करता है। इस ज्ञान-सम्बन्धी प्रक्रिया को तुलना कहेंगे।

(ग) **प्रथक्करण** (Abstraction):—तुलना के पश्चात् मनुष्य समान गुणों का संग्रह करता है और भिन्नताओं की ओर अधिक ध्यान नहीं देता है, क्योंकि दोनों कुत्तों में सामानता ही

अधिक है। इस प्रक्रिया को प्रथक्करण कहते हैं।

(घ) जाति-निरूपण (Generalization):— प्रथक्करण के पश्चात जाति निरूपण की स्थिति आ जाती है। इस स्थिति में व्यक्ति को पूर्ण जाति का ज्ञान होने लगता है, अर्थात् वह जब कभी कोई कुत्ता देखता है वह देखने में चाहे जितना भिन्न हो, वह फौरन कुत्ता कह देगा, क्योंकि उसका ज्ञान जाति-निरूपण की दशा तक पहुंच गया है।

(ङ) परिभाषा (Definition):—जाति निरूपण के पश्चात् व्यक्ति इस दशा में पहुँचता है, कि वह ज्ञात पदार्थ की परिभाषा भी कर सकता है। जब हमारा कुत्ते के विषय में स्पष्ट ज्ञान हो गया है और हमारे मन में उसका सामान्य-प्रत्यय पुष्ट रूप से बन गया है, तो हम कुत्ते की परिभाषा भी कर सकते हैं।

ज्ञान के उपरोक्त पांचों प्रक्रियाओं में गुजरने के पश्चात् ही हमारे मन में किसी पदार्थ के सामान्य-प्रत्यय का ज्ञान ठीक ठीक होता है।

विचार [Thinking]

मानसिक पदार्थ [Psychical object]:— प्रत्यय-विशेष, प्रतिमा, सामान्य-प्रत्यय सब एक प्रकार के मानसिक पदार्थ (Psychical object) हैं, जिसका अस्तित्व हमारे मन

में होता है, यद्यपि इनका आधार एक भौतिक पदार्थ (Psysical Object) अवश्य है, जिसे हमारी ज्ञानेन्द्रियां ग्रहण करती हैं। उदाहरण के रूप में कुत्ता एक भौतिक पदार्थ है; हमारी ज्ञानेन्द्रियों के समक्ष उस कुत्ते के उपस्थित होने पर हमारा मन उस भौतिक कुत्ते को नही रख सकता है, क्योंकि वह भौतिक कुत्ता मन में नहीं समा सकता वरन् उसके द्वारा उत्पन्न मानसिक कुत्ता हमारे मन में आता है। इसी प्रकार उस भौतिक कुत्ते की अनुपस्थिति में जो उस कुत्ते की प्रतिमा आती है, वह भी एक मानसिक पदार्थ है। सामान्य-प्रत्यय तो स्पष्टतया ही मानसिक पदार्थ है, क्योंकि ऐसे कुत्ते की भौतिक सत्ता तो हो नहीं सकती है, जिसमें दुनियाँ भर के सब कुत्तों के सामान्य गुण मौजूद हों। वह तो केवल हमारे मन की उपज है और मन में ही वह पाया भी जा सकता है।

विचारः—मानसिक पदार्थों के प्रति जो भी मानसिक क्रिया होती है, उसे हम विचार कहते हैं। चाहे ये मानसिक पदार्थ भौतिक पदार्थों के द्वारा सीधी तौर से उत्पन्न किये गये हों अथवा नहीं। विचार को हम ज्ञानात्मक-पक्ष से सम्बन्धित मानसिक क्रिया भी कह सकते हैं। हमारे ज्ञान का विकास हमारे विचारों पर ही निर्भर है। मनुष्य की विचार-शक्ति ही मनुष्य और पशु के अन्तर को अधिक स्पष्ट करती है। यदि मनुष्य में विचार-शक्ति न होती, तो वह कभी इस विकास तथा

सभ्यता की स्थिति में न पहुँचता। हमारे जीवन के ज्ञानात्मक पक्ष का विकास हमारी विचार-प्रक्रिया पर ही निर्भर है।

हमने ऊपर तीन श्रेणी के मानसिक पदार्थ बताये हैं। इसलिये हमारे विचार के भी तीन स्तर हैं:—

प्रत्यक्ष-ज्ञान-स्तर (Perceptual Level of Thinking):—प्रत्यय-विशेषों के सम्बन्ध में जो विचार होते हैं, वे ही इस स्तर के माने जायेंगे। इसमें पदार्थ का इन्द्रियों के समक्ष होना अनिवार्य है। कुछ लोग इस स्तर को विचार का स्तर नहीं मानते हैं।

प्रतिमा-स्तर (Imaginative thinking):—विचार के इस स्तर में विचार-प्रक्रिया भौतिक पदार्थों के प्रतिमाओं के सम्बन्ध में चलती है।

सामान्य-प्रत्यय-स्तर (Conceptual Thinking):—विचार के इस स्तर में हमारी विचार-प्रक्रिया सामान्य-प्रत्ययों के सहारे चलती है। यह कल्पना-मूलक-विचार (Imagintive Thinking) का उच्च प्रकार है। यह विचार का सबसे सूक्ष्म स्तर है। इस स्तर पर पहुँचे बिना मनुष्य विचार के सर्वोच्च कार्य जैसे निर्णय, तर्क इत्यादि नहीं कर सकता है।

विचार-कार्य अथवा ज्ञान-विकास के प्रधान नियमः—हमारा सम्पूर्ण विचार कार्य तीन प्रधान नियमों के आधार पर चलता है ।

(१) अनुभव ज्ञान
(Apprehension of Experience)

(२) सम्बन्ध ज्ञान
(Eduction of Relation)

(३) सम्बन्धी ज्ञान
(Eduction of Correlates)

अनुभव ज्ञानः—विचार प्रक्रिया के लिये प्रथम आवश्यकता यह है कि हमें कोई अनुभव हुये हों। जिसके पास कोई अनुभव नहीं है वह क्या विचार करेगा। जितना अधिक हमारा अनुभव सम्पन्न (Rich) होगा उतनी ही अधिक विचार-शक्ति हमारे मन में होगी। हमारे मन में एक ऐसी विशेषता है कि हम अपने सब अनुभवों की भिन्नता का भी ज्ञान रखते हैं। यदि भिन्न भिन्न पदार्थ अथवा व्यापार जैसे गाय, शेर, हंसना, दौड़ना इत्यादि हमारे अनुभव में एक से ज्ञात होते, तो हमारा सब अनुभव लिप पुत जाता और हम कुछ अनुभव न कर सकते। इस प्रकार हमारा अनुभव-ज्ञान हमारे विचार के लिये सामग्री तैयार करता है।

सम्बन्ध ज्ञानः—विचार प्रक्रिया का दूसरा नियम यह है कि हम सदैव अपने विचार में दो या अधिक अनुभवों में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं; जैसे गाय और दूध में यह सम्बन्ध स्थापित करते हैं कि गाय से दूध प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध के स्थापित करने में हमारे मन में तर्क-कार्य प्रारम्भ हो जाता है।

सम्बन्धी ज्ञानः—ज्ञान-विकास अथवा विचार-प्रक्रिया के लिये एक आधार यह भी है कि यदि हमें एक वस्तु ज्ञात हो तथा उसका अन्य वस्तुओं से सम्बन्ध ज्ञात हो, तो हम अपनी विचार-प्रक्रिया से अन्य वस्तुओं को भी अपने ज्ञान-क्षेत्र में लाने का प्रयत्न करते हैं; जैसे 'दूध' और 'देने वाली' हमारी चेतना में आ जायें, तो तुरन्त ही उसके सम्बन्धी (Correlates) जैसे माता, गाय, भैंस इत्यादि भी हमारी चेतना में आ जायेंगे।

ऊपर के आधार अथवा नियमों से हमारे मन में ज्ञान-संस्कार (Knowledge Systems) की वृद्धि होती जाती है।

तर्क
(Reasoning)

यह विचार-क्रिया का एक उच्च प्रकार है। इसमें विचार-क्रिया अधिक जटिल और व्यापक हो जाती है। इसमें वर्त्तमान और अतीत के ज्ञान द्वारा किसी समस्या का हल निकाला जाता

है। जिस प्रकार हम किसी प्रयोग (Experiment) द्वारा अथवा भूल-सुधार (Trial & Error) की विधि के द्वारा किसी समस्या का हल निकालते हैं, उसी प्रकार हम तर्क की मानसिक क्रिया में कल्पना में ही वह प्रयोग कर लेते हैं और किसी नतीजे पर पहुँच जाते हैं। इस प्रकार भूल सुधार की क्रिया में जो बेकार में समय खराब होता है उसे हम बचा लेते हैं। तर्क के द्वारा हम एक कल्पनात्मक प्रयोग अपने विचार में कर लेते हैं; फिर प्रत्यक्ष प्रयोग आरम्भ करते हैं; नहीं तो हमारा बहुत सा समय और परिश्रम बेकार में चला जाय। एक इन्जीनीयर तर्क के द्वारा यह सोच लेता है कि अमुक नदी में अमुक स्थान पर पुल बन सकेगा या नहीं और कितना रुपया खर्च होगा; तब पुल बनाने का असली कार्य प्रारंभ करता है। तर्क के द्वारा ही हम यह तय करते हैं कि जीवन में हमारे लिए कौन सा मार्ग उपयोगी होगा, विधि के अनुकूल नागरिक जीवन बिताना या अवैधानिक कार्य करना। तर्क का प्रकार ही मनुष्य को बहुत कुछ ऊपर उठाता या नीचे गिराता है। तर्क-विहीन व्यक्ति पग पग पर अनेक भूल करता है। परन्तु तर्क-पूर्ण व्यक्ति तमाम भूलों को अपने तर्क द्वारा जान लेता है, और उनसे बचता हुआ अपने कार्य को सिद्ध करता है।

निर्णय (Judgement)

हमारी प्रतिक्रिया का निर्धारण हमारे निर्णय द्वारा होता है।

जब कोई विषम परिस्थिति आ जाती है और उसके हल के कई रास्ते होते हैं, तो हमें उसमें से एक चुनने के लिये निश्चय करना पड़ता है। इस निश्चय-कार्य के लिये जो विचार-प्रक्रिया करनी पड़ती है, उसे हम निर्णय कहते हैं। हमारे निर्णय पर हमारे जीवन की दिशा निर्भर है। यदि एक भी निर्णय हमारा दूषित हो जाता है तो उसके पश्चात् के अन्य निर्णय हमें गलत रास्ते पर ले जाते हैं। हमारा निर्णय यदि विवेक-पूर्ण होता है, तो हम जीवन में धोका नहीं खाते हैं। यदि निर्णय उत्तम न हुआ तो हम अवनति को प्राप्त होते हैं। निर्णय कई प्रकार के होते हैं:-

[क] विवेक-पूर्ण (Reasonable)
[ख] अकास्मिक (Accidental)
[ग] आवेगात्मक (Impulsive)
[घ] वाध्य (Forced)
[ङ] परिवर्तित (Revised)

विवेक-पूर्ण निर्णय ही सबसे उत्तम होता है; इसमें हानि-लाभ उचित-अनुचित तथा परिणाम इत्यादि पर तर्क-पूर्ण विचार कर लिया जाता है। परिवर्तित निर्णय में भी पहले जो भूल हो जाती है, उसको तर्क की कसौटी पर कसने के पश्चात् निर्णय को बदल कर अपनी भूल का सुधार कर लिया जाता है; व्यर्थ के झूठे अभिमान में आकर मनुष्य अपने पूर्व निर्णय पर ही नहीं डटा रहता है। आवेगात्मक निर्णय प्रायः संवेग के आधीन होकर किया

जाता है, अतः प्रायः विवेक की चक्षुओं से हीन रहता है। इस प्रकार के निर्णय में प्रायः परिणाम पर दृष्टि नहीं रक्खी जाती है।

आकस्मिक तथा बाध्य निर्णयों में मनुष्य को बाह्य परिस्थितियों के कारण किसी निर्णय को मजबूर होकर करना पड़ता है। आकस्मिक निर्णय में किसी घटना की गम्भीरता रहती है और बाध्य में चरित्र की दुर्बलता रहती है कि व्यक्ति दूसरे के दबाव में आकर अपने आदर्श से गिर जाता है।

ऊपर के उल्लेख से यह निष्कर्ष निकलता है कि जिन व्यक्तियों में विचार की अपरिपक्वता रहती है अथवा जिन व्यक्तियों में तर्क तथा निर्णय-शक्ति का उचित विकास नहीं होता है, वे समाज के आदर्शों के अनुकूल काम न कर सकने के कारण प्रायः जीवन में अनेक भूले करते हैं और वे भूले कभी कभी अपराध का रूप ले लेती हैं। कितने व्यक्ति विवेक-पूर्ण निर्णय न कर सकने के कारण अवेश में आकर अपराध कर डालते हैं। कुछ लोग दूसरे से बाध्य किये जाने के कारण अपराध में दूसरे को सहयोग प्रदान करने लगते हैं।

बुद्धि (Intelligence)

पिछले अध्यायों में इस बात का केवल संकेत मात्र आया है, कि जिस व्यक्ति में तीव्र बुद्धि होती है, वह अपनी मूल-प्रवृत्तियों में

उचित परिवर्तन कर लेता है, संवेगों पर अच्छा नियंत्रण रखता है, चरित्र का निर्माण अधिक सरलता से कर लेता है। यहां पर यह भी बता देना आवश्यक है कि विचार, तर्क तथा निर्णय इत्यादि ज्ञानात्मक पक्ष की मानसिक क्रियायों का उच्चतम विकास तीव्र बुद्धि के बिना सम्भव नहीं है।

अब प्रश्न यह उठता है कि बुद्धि है क्या ! बुद्धि एक जन्म-जात गर्भित शक्ति है (Potentiality) है, जो यह तय करती है कि व्यक्ति कितना मानसिक विकास प्राप्त कर सकेगा तथा नवीन परिस्थिति में अपने को किस प्रकार व्यवस्थित रख सकेगा तथा अपनी जीवन समस्याओं को कितनी सरलता से हल कर लेगा। इसी शक्ति के अभाव के कारण हीन-बुद्धि वाला व्यक्ति अच्छे से अच्छे वातावरण से भी उचित लाभ नहीं उठा पाता है, अपनी समस्याओं को हल करने में सूझ बूझ से काम नहीं लेता है। परन्तु कुशाग्र बुद्धि का व्यक्ति अपने वातावरण से पूरा लाभ उठाता है, हीन वातावरण में भी हिम्मत नहीं हारता है और नई तथा कठिन परिस्थिति आ जाने पर सूझ द्वारा कठिनाइयों को हल करता है। हमारी बुद्धि नई बातों के सीखने में, उच्च विचार-क्रिया में तथा जीवन की समस्याओं को हल करने में सरलता प्रदान करती है।

इस शक्ति का हमारे विकास में एक महत्व-पूर्ण हाथ है, अतः इसके नापने के लिये अनेक उपाय लोग शताब्दियों से

निकालते आये हैं। प्राचीन समय में लोग खोपड़ी की बनावट, उसके भारीपन तथा मस्तक, नाक, मुख और कान इत्यादि की बनावट से किसी व्यक्ति की बुद्धि के विषय मे अन्दाज़ लगाते थे। परन्तु अब अधिक प्रामाणिक बुद्धि-परीक्षा के ढंग प्रचलित हो गये हैं, जिनके द्वारा पढ़े तथा बेपढ़े व्यक्तियों की बुद्धि की नाप की जाती है। विने-साइमेन ने सर्वप्रथम मानसिक-आयु (Mental age) का सिद्धान्त निकाल कर बुद्धि-परीक्षा की कुछ प्रश्न-मालाएँ तैयार की थीं। अब टरमेन द्वारा प्रतिपादित बुद्धि-लब्धि की इकाई द्वारा बुद्धि नापी जाती है। बुद्धि-लब्धि नापने का नियम निम्न है:—

$$\text{बुद्धि-लब्धि (Intelligent quotient)} = \frac{\text{मानसिक आयु} \times १००}{\text{शारीरिक आयु}}$$

अनेक देशों में इस बुद्धि-लब्धि के नापने के लिये अनेक प्रश्नमालायें तैयार की गई हैं। भारतवर्ष में भी इस दिशा में में प्रयास हो रहा है। उत्तर प्रदेश में साइकोलाजिकल व्यूरो भी वालक की बुद्धि-लब्धि नापने की उचित प्रश्न-मालाएँ तैयार कर रहा है। इस व्यूरों ने पुलिस ट्रेनिंग कालेज मुरादावाद में भर्ती होने वाले शिक्षार्थियों की बुद्धि-परीक्षा के लिये प्रश्न-मालाएँ तैयार करके उपयोगी कार्य किया है।

बुद्धि-माप के लिये व्यक्तिगत बुद्धि-परीक्षा की प्रणाली होती

है; इसके अतिरिक्त समूह-बुद्धि-परीक्षा (Group tests) की भी विधि होती है, जिसके द्वारा हम अनेक व्यक्तियों की बुद्धि की एक साथ जांच कर लेते हैं। जो लोग भाषा का प्रयोग नहीं कर सकते हैं, उनकी बुद्धि की जाँच के लिये क्रिया-परीक्षा (Performance tests) का आयोजन किया गया है। स्टैन्डर्ड बुद्धि-परीक्षा के लिये उचित प्रश्न-पत्र बनाने में उचित सर्तकता रखनी पड़ती है।

भिन्न भिन्न देशों में बुद्धि-परीक्षा के प्रयोग किये गये हैं, उनसे मनोविज्ञानिक निम्न निष्कर्ष पर पहुँचे हैं:—

(१) सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति के बुद्धि का विकास १६ वर्ष के करीब रुक जाता है अर्थात् सामान्य व्यक्ति की शारीरिक आयु (Chronological age) चाहे जितनी हो जाय परन्तु उसकी मानसिक आयु (Mental age) सोलह वर्ष से अधिक नहीं बढ़ती है, हां शिक्षा के द्वारा वह अपनी बुद्धि का प्रयोग अनेक मार्गों में कर सकता है; उसकी विद्या तथा ज्ञान की उन्नति हो सकती है। तीक्ष्ण बुद्धि वाले व्यक्ति की बुद्धि का विकास १८ वर्ष की उम्र तक होता रहता है और सामान्य से गिरे हुये (Sub-normal) व्यक्ति के बुद्धि का विकास १४ वर्ष के लगभग ही रुक जाता हैं। इस प्रकार बुद्धि अथवा योग्यता प्राप्त करने की क्षमता सामान्यतया १५ या १६ वर्ष की आयु तक ही पूर्ण विकास को प्राप्त कर लेती है।

(२) भिन्न भिन्न व्यक्तियों की बुद्धि-लब्धि में भिन्नता होती है। परन्तु सामान्य जनता में लगभग ६०% भाग सामान्य बुद्धि के व्यक्तियों का ही होता है और शेष ४०% में आधे सामान्य बुद्धि से अच्छे और आधे सामान्य बुद्धि से गिरे हुये होते हैं।

(३) यह समझना भूल है कि स्त्रियों की बुद्धि पुरुषों की अपेक्षा हीन होती है। स्त्रियों तथा पुरुषों में कोई बौद्धिक अन्तर नहीं होता है।

प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि-लब्धि (I. Q.) करीब करीब एक सी ही रहती है; शिक्षा से उस पर कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता है। परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि शिक्षा से केवल ५ से १० प्रतिशत ही तक अन्तर पड़ा है, जो बहुत महत्व-पूर्ण अन्तर नहीं है। इस कथन की पुष्टि के लिये एक लड़की के बुद्धि-परीक्षा के आंकड़े देना उचित जान पड़ता है:—

	वास्तविक आयु	मानसिक आयु	बुद्धि-लब्धि
पहली परीक्षा	६ वर्ष ८ महीना	५ वर्ष ६ मास	८३
दूसरी परीक्षा	७ वर्ष १ महीना	५ वर्ष ४ मास	७५
तीसरी परीक्षा	८ बर्ष २ महीना	६ वर्ष १० मास	८४
चौथी परीक्षा	८ बर्ष ७ महीना	७ वर्ष ० मास	८१
पांचवी परीक्षा	१२ बर्ष १० महीना	६ बर्ष १० मास	७७

इस लड़की की ६ वर्ष के दरम्यान में ५ बुद्धि-परीक्षायें ली

गई और उन सब में औसत बुद्धि-लब्धि ८० के लगभग रही। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि-लब्धि में एक स्थिरता पाई जाती है। उचित तथा अनुपयुक्त शिक्षा से बुद्धि-लब्धि में बहुत सीमित चढ़ाव और उतार होता है।

बुद्धि-लब्धि के अनुसार व्यक्तियों का वर्गीकरण टरमेन ने निम्न प्रकार किया है। सामान्य जनता में प्रत्येक वर्ग के मनुष्य किस प्रतिशत में पाये जाते हैं, वह भी अंकित है:—

बुद्धि-लब्धि (I. Q)	वर्ग	प्राप्त प्रतिशत
१४० से ऊपर	प्रतिभाशाली (Genius)	०·२५%
१२० से १४० तक	अत्यन्त उत्कृष्ट (Very superior)	६·७५%
११० से १२० तक	उत्कृष्ट (Superior)	१३%
९० से ११० तक	साधारण (Normal)	६%
८० से ९० तक	मंद (Backward Dull)	१३%
७० से ८० तक	सीमागत (Borderline)	६%
७० से कम	हीन-बुद्धि (Feeble-minded)	१%
५० से ७० तक	मूर्ख (Moron)	
२५ से ५० तक	मूढ़ (Imbecile)	
२५ से कम	जड़ (Idiot)	

जिस व्यक्ति में जितनी अधिक बुद्धि होती है, उतनी ही अधिक क्षमता उसमें विद्या प्राप्ति करने तथा योग्यता-पूर्वक काम करने की होती है। इसके अतिरिक्त उसमें उतनी ही अधिक

उच्च स्थिति विचार, तर्क तथा निर्णय इत्यदि की होती है। ज्ञानामक पक्ष के विकास के लिये बुद्धि की उत्तमता परमाश्यक है। हीन बुद्धि वाले व्यक्तियों की उचित शिक्षा की व्यवस्था करके भी हम उनसे बहुत अधिक आशा नहीं कर सकते हैं; फिर भी उन्हें कुछ व्यवहारिक कार्य सिखा कर उपयोगी बना सकते हैं।

प्रश्न

१—सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान किसे कहते हैं, इसका ज्ञानात्मक पक्ष के विकास में क्या स्थान है ?

२—सामान्य-प्रत्यय किसे कहते हैं, सामान्य-प्रत्ययों के द्वारा हमारे अन्दर किस प्रकार सूक्ष्म विचार की शक्ति उत्पन्न होती है ?

३—विचार कार्य में कौनसी मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ होती हैं; तर्क किस अर्थ में विचार-क्रिया का उच्च प्रकार है ?

४—निर्णय-शक्ति किसे कहते हैं, विवेक-पूर्ण निर्णय करने की अयोग्यता किस प्रकार अपराध के लिये उत्तरदायी होती है ?

५—बुद्धि किसे कहते हैं; इसके नाप की इकाई क्या है ? बुद्धि-परीक्षा किस प्रकार करते हैं ?

६—बुद्धि का विकास कितनी आयु तक होता है; बुद्धि-लब्धि के ऊपर शिक्षा तथा वातावरण का क्या प्रभाव पड़ता है?

७—बुद्धि-लब्धि की दृष्टि से व्यक्तियों को हम किन वर्गों में बाँट सकते हैं; हीन-बुद्धि वाले व्यक्तियों की समस्या को किस प्रकार हल कर सकते हैं, कि वे समाज के लिये भार-रूप न रहें।

अध्याय १०

व्यक्तित्व तथा व्यक्तिगत-भेद

[Personality and Individual differences]

व्यक्तित्व का अर्थः—हम पिछले अध्यायों में यह बता आये हैं कि प्रत्येक व्यक्ति किस प्रकार वंशानुक्रम के द्वारा प्राप्त जन्म-जात गुणों के आधार पर ज्ञानात्मक रागात्मक तथा क्रियात्मक पक्ष में अपना मानसिक विकास करता है, और व्यक्ति का यह सम्पूर्ण विकास किस प्रकार समाज अथवा वातावरण की पार्श्वभूमि पर होता है। परम्परा और वातावरण की सम्मिलित क्रिया से व्यक्ति में कुछ ऐसे गुण [Traits] उत्पन्न हो जाते हैं जो सामान्य रूप से सभी व्यक्तियों में पाये जाते हैं, तथा उसमें कुछ विशेष गुण भी पाये जाते हैं जिससे वह अन्य व्यक्तियों से कुछ भिन्न प्रतीत होता है। इन सामान्य तथा विशेष सम्पूर्ण गुणों के समुच्चय को हम उस व्यक्ति का व्यक्तित्व कहते हैं। जब हम किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के विषय में अपने कुछ

विचार प्रकट करते हैं तो हम उसके शारीरिक; बौद्धिक तथा चारित्रिक सभी गुणों को ध्यान में रखकर अपना मत उसके विषय में प्रकट करते हैं। किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण उसके किसी एक गुण में निहित नहीं हैं, वरन् उसके सभी गुणों की छाप उसके व्यक्तित्व पर पड़ती है। जो लोग किसी के केवल सुन्दर तथा सुडौल शरीर को देखकर उसके विषय में यह तुरन्त कह देते हैं कि इसका व्यक्तित्व [Personality] बहुत अच्छा है, उनका यह मत बहुत ही भ्रामक तथा एकांगी है, क्योंकि उन्होंने उस व्यक्ति के शारीरिक गुण के अतिरिक्त उसके अन्य गुणों की ओर ध्यान नहीं दिया है।

व्यक्तित्व के आधार-भूत अङ्ग

(Constituents of Personality)

प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रकार उसके निम्न गुणों पर निर्भर है। जिस प्रकार के ये गुण होंगे वैसा ही उसका व्यक्तित्व होगा:—

(१) शारीरिक गुण (Physical Traits)।

(२) मानसिक गुण (Mental Traits)।

(३) सामाजिक गुण (Social Traits)।

(१) शारीरिक गुण

मनुष्य के शारीरिक विकास तथा उसकी गठन एवं सौंदर्य का उसके व्यक्तित्व पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है।

बहुत से मनुष्य अपने शारीरिक गुणों के कारण विशेष आकर्षक तथा प्रभावशाली बन जाते हैं। हमारे वस्त्र तथा वेष-भूषा भी हमारे शारीरिक गुण का ही अङ्ग है, इसका भी हमारे व्यक्तित्व पर असर पड़ता है। मनुष्य की चाल ढाल सज-धज, वस्त्र तथा शारीरिक सौंदर्य से हम उसके विषय में बहुत कुछ बता सकते हैं। परन्तु यह सदैव स्मरण रखना चाहिए, कि शारीरिक गुण ही व्यक्तित्व का सब कुछ नहीं है, यह केवल उसका एक साधारण अंग है। बहुत से व्यक्तियों में शारीरिक सौंदर्य तथा सजधज का नितांँत अभाव रहता है, परन्तु हम उनके व्यक्तित्व को महान कहते हैं क्योंकि उनमें मानसिक गुणों का अत्यन्त उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। महात्मा गांधी शारीरिक दृष्टि से न तो सुन्दर ही थे और न कोई सुन्दर वस्त्र ही पहनते थे, परन्तु उनमें मानसिक महानता थी, जिसके कारण उनके व्यक्तित्व की महानता है, कि अब भी उनके अनेक अनुगामी पाये जाते हैं।

(२) मानसिक गुण

मानसिक गुणों के अन्तर्गत तीन प्रकार के गुण आ जाते हैं

(क) बौद्धिक गुण (Intellectual Traits)

(ख) संवेगात्मक अथवा स्वभाव गत गुण (Emotional or tempera-mental Traits)

(ग) चारित्रिक गुण (Character)

[क] बौद्धिक गुण—बौद्धिक गुण से हमारा तात्पर्य व्यक्ति की बुद्धि से है, जो सब व्यक्तियों में समान रूप से नहीं पाई जाती है। कोई व्यक्ति सामान्य बुद्धि का होता है, कोई अत्यन्त प्रतिभाशाली होता है और कोई अत्यन्त मन्द। बुद्धि की कुशाग्रता तथा मन्दता का भी हमारे व्यक्तित्व पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। बुद्धि के कारण भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में अन्तर पाया जाता है। टरमेन ने बुद्धि के अनुसार व्यक्तियों के कुछ भेद किए हैं, उसका उल्लेख नवें अध्याय में हम कर चुके हैं। यहां पर उसकी आवृत्ति नही की जा रही है।

[ख] संवेगात्मक अथवा स्वभावगत गुणः--हमारे संवेग हमारे स्वभाव का निर्माण करते हैं। जो लोग भाव प्रधान होते हैं उनके जीवन में संवेग की प्रधानता पाई जाती है। स्वभाव (Temperament) की दृष्टि से व्यक्तियों के चार प्रकार किये जा सकते हैं।

(च) आशावादी (Elated)

(छ) निराशावादी (Depressed)

(ज) अस्थिर (Unstable)

(झ) चिड़चिड़े (Irritable)

आशावादी स्वभाव के लोगों का जीवन आशापूर्ण होता है, वे किसी बात के विषय में निराशा अथवा असफलता की संभावना नहीं देखते हैं। ऐसे व्यक्ति कभी कभी अपने मार्ग

की कठिनाइयों का पूर्ण अन्दाजा नहीं लगा पाते हैं। अतः वे कभी कभी अपने जीवन में असफल हो जाते हैं। निराशावादी व्यक्ति आशावादी के विपरीत होते हैं, उन्हें हर काम में निराशा की झलक दिखाई पड़ती है। ऐसे व्यक्ति प्रायः निष्क्रिय तथा दुखी रहते हैं। अस्थिर स्वभाव के व्यक्ति के ऊपर कभी भी भरोसा नहीं किया जा सकता है। उसका चित्त अव्यवस्थित रहता है, वह कभी अत्यन्त प्रसन्न, कभी अत्यन्त गम्भीर और कभी अत्यन्त क्रुद्ध हो जाता है। चिड़चिड़ा व्यक्ति प्रायः दूसरों के ऊपर अपना क्रोध दिखाया करता है, जिससे अन्य व्यक्ति प्रायः उससे अप्रसन्न रहते हैं। उसका कार्य यदि कुछ व्यक्ति करते हैं तो उसके भय से, न कि उसके प्रति प्रेम तथा श्रद्धा होने के कारण।

चारित्रिक गुण—मनुष्य के व्यक्तित्व का प्रकार उसके चरित्र से भी बहुत कुछ तय हो जाता है। यदि हम किसी के चरित्र को अच्छी तरह जानते हैं, तो हम उसके व्यक्तित्व के विषय में बहुत कुछ ठीक मत निश्चित कर सकते हैं। चरित्र का निर्माण किस प्रकार होता है, इसका उल्लेख हम 'चरित्र-निर्माण' के अध्याय में कर आये हैं। जब हमारे मन में उच्च-आदर्शों तथा गुणों के प्रति स्थायी-भाव बन जाते हैं और वे स्थायीभाव हमारे आत्म-सम्मान का अंग बन जाते हैं; तभी उन गुणों तथा आदर्शों में हमारे आचरण को प्रभावित करने की शक्ति आती है। जिन व्यक्तियों में कोई भी चारित्रिक प्रौढ़ता एवं स्थिरता नहीं है, उनमें सुदृढ़ व्यक्तित्व

का नितान्त अभाव ही समझना चाहिए। जिनमें चारित्रिक विकास नही हुआ है उसके आचरण में कभी भी स्थायित्व नहीं आ सकता है। उसके विषय में कभी भी निश्चित रूप से नहीं कह सकते हैं कि अमुक प्रकार का ही कार्य करेगा। चरित्र-हीन व्यक्ति थाली के बैंगन के समान होता है; उसे जिधर लुढ़का दो उधर ही लुढ़क जाता है। चरित्र-हीनता एक ऐसी स्थिति है जो अपराध का कारण बन जाती है। चरित्र-हीन व्यक्ति ही प्रायः अपराध करते हैं।

(३) सामाजिक गुण

व्यक्ति में एक गुण सामाजिकता (Sociability) का भी होता है, जो उसे समाज में विशेष आकर्षक बनाता है। कुछ लोग समाज में बहुत मेल-जोल बढ़ाते हैं और अनेक व्यक्तियों के सम्पर्क में आने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु कुछ लोग इसके विपरीत कार्य करते हैं, वे अपने में ही मस्त रहते हैं। मनो-विश्लेषणवादी जुंग ने सामाजिकता के गुण को दृष्टि में रखकर मनुष्यों को दो प्रकार का बताया है। कुछ व्यक्ति अन्तर्मुखी [Introvert] और कुछ वहिर्मुखी [Extrovert] होते हैं।

अन्तर्मुखी
[Introvert]

अन्तर्मुखी व्यक्ति अपनी शक्ति को अपने में ही केन्द्रित किये

रखता है और संसार में विशेष आसक्ति नहीं दिखाता है। प्रत्येक बात तथा समस्या में अपने ही दृष्टिकोण को अधिक प्रधानता देता है। सभा सोसाइटी में पीछे रहता है, कभी आगे आने का विशेष प्रयत्न नहीं करता है। ऐसा व्यक्ति कल्पना-प्रधान अधिक होता है और अपने विचारों में मस्त रहता है। उसमें लज्जा की मात्रा अधिक होती है, अधिक व्यक्तियों के समक्ष स्पीच इत्यादि देने में उसे बड़ा संकट दिखाई पड़ता है। बाहरी आडम्बर में उसे विश्वास नहीं होता है। यहां तक कि उसे अपने पहनावे इत्यादि के विषय में भी विशेष दिखावा पसन्द नहीं होता है। सामान्य मनोविनोद तथा खेल तमाशे में उसकी विशेष अभिरुचि नहीं होती है। वह अपनी प्रशंसा दूसरों से नहीं करवाना चाहता है तथा अपने गुणों को दूसरों से छिपाकर रखना चाहता है। प्रत्येक समस्या की तह तक जाने का प्रयत्न करता है; अतः उसे किसी बात के निर्णय करने में देर लगती है। वह अपने जीवन में प्रत्येक कदम बड़ी सावधानी से उठाता है। वह अपना भेद भी आसानी से दूसरे को नहीं देता है। अन्तर्मुखी व्यक्तियों में जो विद्वान तथा विचार-प्रधान होते हैं, वे बहुत बड़े दार्शनिक निकलते हैं। ऐसे लोग ही धर्म, दर्शन अन्य गहन विषयों की खोज करते हैं और तत्व-द्रष्टा कहलाते हैं, और वे सदैव इस संसार में चरम सत्य की खोज में जीवन बिताते हैं। अन्तर्मुखी व्यक्तियों में जो भाव-प्रधान व्यक्ति होते हैं और संसार के संघर्षात्मक जीवन से बचना चाहते हैं, वे कवि अथवा चित्र-

कलाकार बन जाते हैं, वे अपनी कल्पना का प्रकटीकरण अपनी कविता अथवा कला में करते हैं। इस प्रकार का व्यक्ति यदि अपराधी बनता है तो आत्म-हत्या जैसे अपराध अधिक करता है।

बहिर्मुखी

[Extrovert]

बहिर्मुखी व्यक्ति अन्तर्मुखी व्यक्ति का विलोम होता है, अर्थात् वह अपनी शक्ति का प्रसार करना चाहता है। उसे अपनी शक्ति को अपने में ही केंद्रित करके रखना पसंद नहीं होता है। वह सभा-सोसाइटी से घबड़ाता नहीं है, सब से बेधड़क मिलता है और मेल जोल बढ़ाता है। वह समाज में पीछे नहीं रहना चाहता है, वरन् सबका नेता बनना चाहता है। वह अपने गुणों को छिपाता नहीं है, वरन् दूसरों पर प्रकट करना चाहता है। बहिर्मुखी व्यक्तियों में जो लोग विचार-प्रधान होते हैं वे समाज के बहुत अच्छे नेता बन सकते हैं तथा समाज की व्यवस्था को ठीक रखने में बहुत ही ज्यादा सफल होते हैं। यदि इस प्रकार का व्यक्ति अपराधी बन गया, तो वह एक गिरोह (Gang) का नेता बन कर समाज के लिये अत्यन्त घातक सिद्ध होता है।

उभय-मुखी

[Ambivert]

कुछ विचारकों का मत है कि अन्तर्मुखी या बहिर्मुखी जैसा

शुद्ध प्रकार (Pure Type) मिलना कठिन होता है। शुद्ध प्रकार के लोग बहुत कम होते हैं। प्राय: व्यक्तियों में दोनों प्रकार के मिश्रित गुण पाये जाते हैं, अत: अधिकतर लोग उभय-मुखी (Ambivert) ही होते हैं।

व्यक्तिगत भेद के कारण

हमने ऊपर यह देख लिया है कि सब मनुष्यों के व्यक्तित्व एक प्रकार के नहीं होते हैं। इसका कारण यह है कि व्यक्तियों के शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक गुण एक समान नहीं हो पाते हैं; उनके इन गुणों में भिन्नता रहती है। इस भिन्नता के अनेक कारण हैं; उनमें से प्रधान कारणों का यहाँ पर उल्लेख कर देना अत्यन्त आवश्यक है। ये मुख्य कारण निम्न हैं:—

१—वंशानुक्रम (Biological Heredity)

२—समाज-परम्परा (Social Heredity)

३—वातावरण और शिक्षा
(Environment & Education)

४—लिंगगत भेद (Sex differences)

व्यक्तिगत भेद का एक प्रमुख कारण वंशानुक्रम अथवा वंशपरम्परा है (Biological Heredity) है, जिसका उल्लेख विशद रूप से 'परम्परा और वातावरण' के अध्याय में हो चुका है। उस अध्याय में यह हम देख चुके हैं कि किस प्रकार हमारा शारीरिक तथा मानसिक विकास हमारी वंश-परम्परा पर निर्भर

है। हमारा शरीर गोरे रंग का होगा या काले रंग का, हम लम्बे होंगे या नाटे यह सब कुछ गर्भाधान के समय ही निश्चित हो जाता है। हमारी बुद्धि कैसी होगी यह भी वंशानुक्रम के द्वारा ही निश्चित हो जाता है। अतः व्यक्तिगत भेद का एक प्रमुख कारण वंश-परम्परा ही है।

व्यक्तिगत भेद का दूसरा प्रमुख कारण समाज-परम्परा है। बच्चा केवल अपने परिवार ही में जन्म नहीं लेता है, वरन् एक समाज में भी उत्पन्न होता है। जिस प्रकार बालक अपने माता पिता के गुण तथा दोषों से प्रभावित होता है, उसी प्रकार वह अपने जाति और समाज से भी प्रभावित होता है। हमारी जातीय रूढ़ियाँ हमको परम्परा के समान ही प्रभावित करती हैं। हम सहज में ही उन सबको ग्रहण कर लेते हैं और यह नहीं मालूम पड़ता है कि उन्हें सीखने के लिये हमने कोई प्रयास किया है। यही कारण है कि हिन्दू, मुसलिम, अंग्रेज तथा नीग्रो के परिवार में पले बालक की रहन सहन में एक विशेष भेद दिखाई पड़ता है। यह भेद समाज-परम्परा के ही कारण हैं।

वातावरण और शिक्षा भी हमारे व्यक्तिगत भेदों के लिये बहुत कुछ उत्तरदायी है। यदि हम किसी बालक को उचित वातावरण तथा शिक्षा न प्रदान करें, तो बहुत कुछ उसकी गर्भित शक्ति अविकसित रह जायगी। हमारी आर्थिक स्थिति भी वातावरण की भिन्नता का कारण बन जाती है; अमीरी या

गरीबी का हमारे मानसिक विकास तथा शिक्षा और दीक्षा पर बहुत प्रभाव पड़ता है। वातावरण किस प्रकार हमें प्रभावित करता है, इसका विशद वर्णन अन्यत्र हो चुका है। यहाँ पर उसके आवृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

लिंगगत भेद के कारण भी व्यक्तिगत भिन्नता पाई जाती है। स्त्री और पुरुषों में लिंग-भेद के कारण ही कुछ शारीरिक मानसिक तथा स्वभावगत भेद उत्पन्न होता है, यद्यपि बहुत से लोग स्त्री और पुरुष के मानसिक तथा स्वभाव के भेद को अधिक महत्व नहीं देते हैं। परन्तु शारीरिक भेद तो रहेगा ही और कुछ स्वभाव-गत भेद भी पाया जा सकता है।

संगठित व्यक्तित्व

(Integrated Personality)

अभी तक हमने इस बात पर विचार किया था कि किस प्रकार हमारे शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक गुण हमारे व्यक्तित्व को निश्चित करते हैं। अब यहाँ पर यह विचारणीय है कि हमारे शारीरिक मानसिक तथा चारित्रिक गुणों में कब शक्ति आती है और वे सब गुण कब एक सूत्र में बंधकर एक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। हमारे गुण जब बिखरे बिखरे रहते हैं, तब हमारे कार्य में कभी भी दृढ़ता नही आती है और हमारा जीवन अत्यन्त अव्यवस्थित रहता है। हमारे जीवन

मे एक उचित व्यवस्था का जन्म तब होता है, जब हमारे गुणों का ठीक ठीक संगठन हो जाय। यह संगठन तब दृढ़ होता है, जब हमारे अन्दर आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव बन जाता है और हम अपने सब गुणों को अपने आत्म अथवा 'स्व' (Self) का अंग समझते हैं। यही नहीं जब हम अपने अन्दर 'आदर्श स्व' (Ideal Self) के प्रति भी एक दृढ़ स्थायी-भाव बना लेते हैं, तब हम कभी भी अपने आदर्श से नहीं गिरते हैं और हमारे आचरण में एकसा-पन (Uniformity) दिखाई पड़ता है संगठित व्यक्तित्व वाला व्यक्ति अपने स्वार्थ तथा समाज के आदर्श में एक संतुलन (Balance) भी स्थापित कर लेता है, जिससे व्यक्ति और समाज के संघर्ष में उसके व्यक्तित्व में विघटन की अवस्था न उत्पन्न हो और उसके संगठित व्यक्तित्व में असंतुलन (Maladjusment) न प्रारम्भ हो। संगठित व्यक्तित्व के लिये यह स्थिति आवश्यक है, कि वह अपने व्यक्तित्व में सामाजिक-संतुलन (Social adjustment) स्थापित किये रहे, नहीं तो उसके व्यक्तित्व के छिन्न भिन्न होने की अशंका बनी रहेगी।

असंगठित व्यक्तित्व

ऊपर संगठित व्यक्तितत्व की व्याख्या हो चुकी है। यदि ऊपर दी गई दशायें नहीं उत्पन्न होती हैं तो मनुष्य का व्यक्तित्व असंगठित एवं असंतुलित रह जाता है।

असंगठित व्यक्तित्व का प्रधान कारण यह है कि व्यक्ति अपने अन्दर दृढ़ आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव का निर्माण नहीं कर पाता है; अतः उसके मन में सदैव एक संघर्ष (conflict) रहता है और उसे समझ में नहीं आता है, कि किस आदर्श के अनुसार काम करे। उसका मार्ग संगठित-व्यतिक्त्व के समान निश्चित नहीं रहता है, वह उचित और अनुचित में से एक को शीघ्र चुन नहीं पाता है।

असंगठित व्यक्तित्व का दूसरा कारण यह है कि जब व्यक्ति समाज के आदर्शों के अनुकूल अपने आचरण को नही बना पाता है, तब उसकी इच्छाओं का दमन होता है और इस दमन के कारण उसके अन्दर भावना-ग्रंथियाँ बन जाती हैं। ये भावना-ग्रन्थियाँ उसके अचेतन मन में अपना स्थान बना लेती हैं और एक संगठन स्थापित कर लेती हैं, जिसके कारण उनमें उसके व्यवहार को प्रभावित करने की एक विशेष शक्ति आ जाती है। इस प्रकार उसके आचरण पर दोहरा या कई शक्तियों का शासन हो जाता और उसके व्यवहार में एकसा-पन अथवा व्यवस्था नहीं रह जाती है। एक ओर तो हमारे ऊपर हमारे चेतन मन में बने हुये स्थायी-भाव प्रभाव डालते हैं और दूसरी ओर हमारे अचेतन मन में संगठित हमारी भावना-ग्रंथियाँ हमारे व्यवहार को प्रभावित करती हैं। हमारी भावना-ग्रन्थियों के द्वारा प्रभावित व्यवहार में वह औचित्य (Appropriateness)

नहीं पाया जा सकता है, जो सामाजिक आदर्शों से निर्मित आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव द्वारा प्रेरित व्यवहार में। इसलिये असंगठित व्यक्तित्व में कई व्यक्तित्व एक साथ कार्य करते रहते हैं। उसके व्यक्तित्व में एकत्व का अभाव और अनेकत्व की उपस्थिति रहती है। परन्तु संगठित व्यक्तित्व में अनेकत्व में एकत्व (Unity in Diversity) की स्थापना हो जाती है। इसलिये असंगठित व्यक्तित्व को बहु-व्यक्तित्व (Multiple Personality) की भी संज्ञा दे देते हैं। कुछ बहु-व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व एकान्तर (Alternate) ढंग से कार्य करते रहते हैं और किसी में सब व्यक्तित्व एक साथ काम करते हैं। ऐसे व्यक्तियों की मानसिक दशा अव्यवस्था से परिपूर्ण रहती है। अतः उनका व्यवहार अथवा आचरण भी अदृढ़ और अव्यवस्थित रहता है। बहु-व्यक्तित्व वाले मनुष्यों का व्यवहार असामान्यता (Abnormalities) से परिपूर्ण रहता है। यह असामान्यता कभी कभी इस हद तक बढ़ जाती है कि अपराध का कारण भी बन जाती है।

अतः इस अध्याय के सम्पूर्ण उल्लेख से यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारा व्यक्तित्व ही हमारे जीवन का प्रकार निश्चित करता है। यदि हमारे व्यक्तित्व का संगठन उचित प्रकार से हुआ है, तो हमारा आचरण समाजोचित होगा अन्यथा वह अत्यन्त स्वार्थ-पूर्ण होगा और कभी कभी समाज के लिये घातक भी सिद्ध हो सकता है।

प्रश्न

१—व्यक्तित्व-निर्माण किस प्रकार होता है? व्यक्तित्व के कौन से अधारभूत अंग हैं?

२—संगठित और असंगठित व्यक्तित्व से क्या तात्पर्य है? संगठित व्यक्तित्व का निर्माण किस प्रकार होता है?

३—व्यक्तियों में व्यक्तिगत भेद क्यों होता है?

४—अन्तर्मुखी तथा वहिर्मुखी व्यक्तियों के अन्तर को स्पष्ट कीजिये?

५—स्वभाव (Temperament) की दृष्टि से व्यक्तियों के कौन कौन प्रकार होते हैं? उनमें मुख्य भेद क्या है?

अध्याय ११

विक्षिप्त-व्यवहार

(Abnormal Behaviour)

पिछले अध्यायों में जिस व्यवहार का अध्ययन किया गया है वह प्रायः व्यक्ति के सामान्य विकास (Normal Development) से सम्बन्धित है और उसके कारण की भी व्याख्या ज्ञात चेतना अथवा ज्ञात मन (Conscious mind) के आधार पर की गई है। पूर्व अध्यायों में कहीं कहीं असामान्य व्यवहार (Abnormal Behaviour) का उल्लेख-मात्र किया गया है; उसका कारण अज्ञात मन (Unconscious Mind) की दबी हुई इच्छायें बताया गया है; परन्तु उसकी सैद्धान्तिक विवेचना नहीं की गई है । अब इस अध्याय में कुछ अधिक विवरण देकर यह स्पष्ट किया जायगा कि किस प्रकार हमारी विक्षिप्त मनोदशा तथा असामान्य व्यवहार का कारण हमारे अज्ञात मन में छिपा रहता है, जिसको पता लगाना आसान नहीं होता है। अज्ञात मन की गहराई में छिपे हुए कारणों का पता

लगाने के लिये मनोविज्ञान में मनोविश्लेषणवाद (Psycho-analysis) का जन्म हुआ। मनोविज्ञान के क्षेत्र में इस वाद के आने के पहले हम अपनी सामान्य भूलों, स्वप्नों, मानसिक बीमारियों तथा अकारण अकस्मात किये गये अपराधों का कारण ठीक ठीक निश्चित नहीं कर पाते थे। मनोविश्लेषण-वादियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि जिस प्रकार भौतिक-क्षेत्र की प्रत्येक घटना का कारण अवश्य होता हैं, उसी प्रकार मानसिक क्षेत्र में भी प्रत्येक क्रिया का कारण अवश्य होता है। इस क्षेत्र में भी कार्य-कारण (Cause & Effect) की शृंखला भौतिक-क्षेत्र के ही समान पाई जाती है। अतः मनुष्यों के असामान्य व्यवहार की व्याख्या करने के लिये मनोविश्लेषणवादी मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित अज्ञात मन और उसकी कार्य-प्रणाली को जानना अत्यन्तावश्यक है।

मनोविश्लेषण के जन्मदात फ्रायड ने मन के तीन भाग किये हैं उनको वह अचेतन (Unconscious), चेतन [Conscious] एवं अर्धचेतन [Pre-conscious] कहता था। परन्तु फिर उसने अपने सिद्धान्तों का अधिक विकास किया और उन्हें इड [Id], अहं [Ego] और नैतिक मन [Super Ego] के नाम से अभिहित करने लगा। फ्राइड के पश्चात् जितने भी एडलर, युंग आदि मनोविश्लेषणवादी हुये हैं, उन्होंने अचेतन की सत्ता को किसी न किसी रूप में माना है; चाहे

अचेतन के अन्तर्हित विषय [Contents] के सम्बन्ध में मतभेद रहा हो। अब यहाँ पर अचेतन अथवा इड, अहं और नैतिक मन की विशेषताओं को समझ लेना अत्यन्तावश्यक है।

अचेतन मन अथवा इड की विशेषतायें

[क] मन का यह भाग अज्ञात है, इसके अन्तर्हित विषय (Contents) का हमें ज्ञान नहीं रहता है। यह मन का बहुत बड़ा भाग है और ज्ञात मन इसकी तुलना में बहुत छोटा होता है।

[ख] इसकी प्रेरणा केवल प्रकृत अथवा नैसर्गिक(Natural) इच्छाओं की पूर्ति की ओर रहती है। नैतिक आदर्शों से इसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

[ग] इसमें हमारी समस्त दबी हुई इच्छायें शरण पाती हैं। फ्रायड केवल काम प्रवृत्ति को ही प्रधान मानता है। अतः यह प्रवृत्ति दमन किये जाने पर यहीं पर अपना स्थान बना लेती है। परन्तु समय पाकर हमारी बहिष्कृत इच्छायें ज्ञात चेतना में आने का प्रयत्न करती है।

[घ] युंग महोदय का कहना है कि इसमें केवल दबी हुई इच्छायें ही नही रहती हैं, वरन् हमारे जातीय (Racial) गुण भी भाव–प्रतिमाओं (Archetypes) के रूप में रहते हैं।

[ङ] अज्ञात मन में दबे हुये विरोधी-भाव भावना-ग्रन्थियों के रूप में हमारे व्यवहार को प्रभावित करते रहते हैं। ये दबी हुई इच्छायें अहं के भय के कारण भेष बदल कर प्रकट होती हैं।

चेतन मन अथवा अहं की विशेषतायें

(क) इसका सम्बन्ध बाहरी जगत और वास्तविक जीवन से होता है।

(ख) यह चेतन है अर्थात् इनके अन्तर्हित विषय (Contents) की हमें चेतना रहती है।

(ग) चेतन मन में जो इच्छायें समाजोचित नहीं होती हैं, नैतिक मन उन्हें दमन कर देता है और उन्हें अचेतन मन में ढकेल देता है।

(घ) ज्ञात मन का एक भाग सुसुप्तावस्था में भी अज्ञात मन की क्रियायों पर प्रतिरोधक का काम किया करता है। अतः स्वप्न में भी अज्ञातमन में दबी हुई इच्छायें प्रकृत रूप में नहीं प्रकट हो पाती हैं, वरन् रूपान्तर से प्रकट होती हैं।

अज्ञात मन की इच्छायें हमारे चेतन मन में उसी समय तक प्रवेश कर पाती हैं, जब तक अहं की मर्यादा भंग न हो। अतः वे प्रायः प्रतीक (Symbol) के रूप में प्रकट होती हैं। यह फ्रायड का

मत है। युंग का इससे मतभेद है। उसका कहना है कि अज्ञात मन का यह ढंग ही है कि वह वेश बदलकर अपनी इच्छाओं को प्रकट करे, न कि अहं के साथ समझौता करने के लिये अज्ञात मन ऐसा करता है।

नैतिक-मन

(Super Ego)

मन का यह भाग हमारी सभ्यता, संस्कृति तथा धर्म का प्रतीक है। हमारे सामाजिक आदर्श का जो प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है, नैतिक मन उसी का प्रतिरूप है। मन का यह भाग हमारे अहं पर शासन करता है और उसके कार्य की बलपूर्वक आलोचना करता है।

अचेतन मन में दबी हुई इच्छाओं तथा भावना-ग्रन्थियों के प्रकटीकरण के साधनः—

हमारे अचेतन मन में दबे हुये भाव तथा भावना-ग्रन्थियां कई प्रकार से प्रकट हुआ करती हैं। मुख्य साधन चार हैं:—

१—भूल,

२—स्वप्न,

३—मानसिक रोग,—(क) मनोदौर्बल्य / (ख) मनोविक्षेप

४—अपराध,

(१) भूल

हमारे दैनिक कार्यों की भूलें भी हमारे असामान्य व्यवहार को प्रकट करती हैं। हम बहुत ध्यान रखते हैं, तब भी दफ्तर की चाभी भूल जाते हैं। हम किसी परिचित व्यक्ति के पत्र का उत्तर देना प्रायः भूल जाते हैं। यदि लिख भी लेते हैं तो कई दिन तक अपनी जेब में डाले घूमा करते हैं। यहां पर यह प्रश्न उठता है कि क्या ये सब भूलें अकारण हैं। मनोविषश्लेण के द्वारा यह पता लगाया गया है कि ये भूलें हमारे अचेतन मन में दबी हुई इच्छाओं के कारण होती हैं। यदि हम किसी परिचित व्यक्ति के पत्र का उत्तर नहीं देते, तो इससे प्रकट यह होता है कि हमारे अचेतन मन में उसके प्रति द्वेष है; परन्तु चेतन मन में नैतिक मन के शासन के कारण यह साहस नहीं है कि वह इस द्वेष को प्रकट करे। इसी प्रकार कार्यालय की चाभी हम प्रायः भूल जाते हैं, इसका कारण यह है कि उस समय दफ्तर खोलने की हमारी इच्छा नही है।

यह प्रायः देखा गया है कि एक नौकर एक जगह अच्छा कार्य करता था परन्तु दूसरे मालिक के यहां अनेक भूलें करता है। इसका कारण उसके स्मरण-शक्ति की कमजोरी तथा बुद्धि की कमी नहीं हैं, वरन् दूसरे मालिक की कठोरता के कारण उसके यहाँ नौकरी करने की अनिच्छा है, जो उससे बारबार

भूलें करवाती हैं; अथवा मालिक के प्रति अचेतन मन में द्वेष है जो उससे बार बार भूलें करवाता है।

यदि पुलिस का कोई कर्मचारी अपने कार्य में प्रायः एक सी भूलें किया करता है, तो हो सकता है कि उसे उस प्रकार के कार्य करने से अनिच्छा हो अथवा पुलिस कार्य ही से प्रेम न हो।

(२) स्वप्न

स्वप्न का कारण तथा प्रयोजनः—स्वप्न भी हमारे अचेतन मन में दबी हुई इच्छाओं की पूर्ति के साधन हैं। जो इच्छायें हम चेतन जीवन में नहीं पूरा कर पाते हैं, वह हम स्वप्न में पूरा कर लेते हैं। जिन इच्छाओं के प्रकट करने में समाज का प्रतिबन्ध होता है, वे हम स्वप्न में पूरा करते हैं। स्वप्न में इच्छाओं को इसलिये पूरा करते हैं कि ससुप्तावस्था में अहं का प्रतिबन्ध (Censor) शिथिल पड़ जाता है। ये दबी हुई इच्छायें कभी कभी प्रत्यक्ष रूप में अपनी पूर्ति और कभी कभी अप्रत्यक्ष रूप में करती हैं।

प्रत्यक्ष रूप में दबी हुई इच्छाओं को पूरा करने से हमारा तात्पर्य यह है कि निर्धन व्यक्ति धन प्राप्ति के स्वप्न देखता है, कामुक व्यक्ति काम वासना की तृप्ति स्वप्न में कर लेता है। कायर व्यक्ति स्वप्न में वीर के कार्यों को करता हुआ अपने को

पाता है। इस प्रकार हमारे जीवन में स्वप्न का अत्यन्त महत्व है। इसके द्वारा हमारी इच्छाओं की आंशिक तृप्ति हो जाती है और ममानसिक रोगों से बच जाते हैं।

यदि ये स्वप्न न होते तो हमारे जीवन की कठोरता अत्यन्त असह्य हो जाती। एडलर का कथन है कि स्वप्न आत्म-हीनता की भावना-ग्रन्थि के कारण होते हैं और इसके द्वारा व्यक्ति अपनी आत्म-संस्थापन की वृत्ति को तृप्त कर लेता है।

परन्तु कभी कभी हमारी इच्छायें नैतिक दृष्टि से बहुत ही पतित होती हैं उनकी तृप्ति मन गुप्त रूप से स्वप्न में करता है। जैसे यदि कोई स्त्री यह नहीं चाहती है कि उसके संतान हो और वह गर्भवती हो जाती है, तो प्राय: वह किसी अन्य स्त्री के द्वारा किसी बालक की हत्या करने के स्वप्न देखती है। इस प्रकार के स्वप्न के द्वारा वह अपनी दमन की गई इच्छा की अभिव्यक्ति करती है। वह स्त्री अपने बच्चे को जीवित उत्पन्न होना नहीं देखना चाहती है; चेतन मन में यह भावना नैतिक आदर्शों के कारण टिक नहीं सकती है। दूसरी स्त्री के द्वारा अन्य बालक की हत्या से वह हत्या के अपराध का दूसरे पर आरोपण कर देती है; स्वयं अपराधी होने से भी बच जाती है; और उसकी दमन की हुई इच्छा की भी पूर्ति हो जाती है। इस प्रकार हमारे स्वप्न प्राय: हमारी अव्यक्त भावनाओं के प्रतिविम्ब मात्र होते हैं, परन्तु वे सेन्सर के भय के कारण विकृत रूप में अथवा

प्रतीकात्मक (Symbolic) ढंग से व्यक्त होती हैं।

इस प्रकार हमारी अव्यक्त इच्छाओं की तृप्ति गुप्त ढंग से होती है। इसलिये फ्रायड के स्वप्न की तृप्ति को स्थानापन्न तृप्ति (Substitutive gratification) कहा है।

हमारी दबी हुई इच्छायें जितनी जटिल होती है, हमारे स्वप्न भी उतने ही जटिल होते हैं।

स्वप्न का आधार

प्रत्येक स्वप्न के दो स्वरूप होते हैं। एक को प्रत्यक्ष स्वरूप (Manifest content) दूसरे को अप्रत्यक्ष स्वरूप (Latent content) कहते हैं। स्वप्न का प्रत्यक्ष स्वरूप ही स्वप्न द्रष्टा के स्मरण में रहता है। स्वप्न के अप्रत्यक्ष स्वरूप का ज्ञान स्वप्न-द्रष्टा को नहीं रहता है। स्वप्न का असली तथ्य अथवा आधार उसका अप्रत्यक्ष स्वरूप ही है। स्वप्न का अप्रत्यक्ष स्वरूप प्रत्यक्ष स्वरूप से आच्छादित रहता है। जो स्वप्न-विश्लेषण के द्वारा ही ज्ञात हो पाता है। प्रायः दोनों स्वरूपों में बड़ा अन्तर रहता है। साधारण ढंग से हम प्रत्यक्ष स्वरुप से अप्रत्यक्ष का पता नहीं लगा सकते हैं।

स्वप्न में अचेतन मन की कार्य-प्रणाली

स्वप्न के प्रकट करने में अचेतन मन निम्न कार्य प्रणालियों को प्रयोग में लाता है:—

१—संक्षिप्तीकरण

२—विस्थापन

३—नाटकीयता

४—प्रतीकीकरण

हमारा अचेतन मन अपने अन्दर दबी हुई इच्छाओं को ऐसी कूटनीति से प्रकट करता है कि चेतन मन को उनका पता न चले।

संक्षिप्तीकरण—हमारा अचेतन मन हमारी अनेक समान तथा विरोधी इच्छाओं को तथा हमारी सम्पूर्ण दुखद घटना को स्वप्न में बहुत ही संक्षेप रूप में प्रकट करता है, इस कारण हम यह नहीं जान पाते हैं कि हमारे स्वप्न का वास्तविक अर्थ क्या है।

विस्थापन—स्वप्न में हमारी दबी हुई इच्छा का विषय कुछ का कुछ हो जाता है। जैसे हम मोहन से घृणा एवं सोहन को प्यार करते हैं तो स्वप्न में हो सकता है कि सोहन मोहन का स्थान ले लें अर्थात् उसमें सोहन के प्रति घृणा प्रकट हो। इस प्रकार स्वप्न में सोहन के प्रति घृणा मोहन के प्रति घृणा का द्योतक होगी।

नाटकीयता—स्वप्न में सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार तथा इच्छायें नाटकीय ढंग से व्यक्त होती हैं अर्थात् उन्हें दृश्य रूप में, श्रव्य रूप में अथवा स्पर्श करके हम अनुभव करते हैं। इस नाटकीयता के कारण ही स्वप्न में कल्पना बड़ी सजीव तथा मूर्त (Concrete) रहती है।

प्रतीकीकरण—नैतिक प्रतिरोधक (Censor) के भय के) कारण स्वप्न में अनेक इच्छायें सीधी प्रकार प्रकट न होकर प्रतीक (Symbol) के रूप में विकृत होकर प्रकट होती हैं।

स्वप्न-विश्लेषण की आवश्यकता

स्वप्न-विश्लेषण की आवश्यकता कई कारणों से होती है। सबसे पहली बात यह है कि स्वप्न-विश्लेषण से स्वप्न द्रष्टा की उलझनों, मानसिक संघर्ष तथा दमन की हुई इच्छाओं का पता लग जाता है। इस प्रकार हम उसके जीवन की कठिनाइयों को सुलझा सकते हैं। दूसरी उपयोगिता यह है कि स्वप्नों का विश्लेषण करके हम स्वप्न द्रष्टा के मानसिक रोगों का तथा उसके व्यक्ति-विच्छेद का असली कारण मालूम कर सकते हैं और फिर उसका उपचार भी ठीक ठीक हो सकता है। सामान्य व्यक्ति अथवा अपराधी की व्यक्तिगत उलझनों तथा अतृप्त इच्छाओं को उनके स्वप्नों के विश्लेषण के द्वारा ज्ञात कर सकते हैं और उसके सुधार का उचित उपाय निश्चित कर सकते हैं।

स्वप्न-विश्लेषण की विधियां

फ्रायड ने स्वप्न विश्लेषण की दो विधियाँ बताई हैं:—

१—स्वतंत्र मन-आयोजन (Free association) इस विधि का विवरण आगे दिया जायगा।

२—साइफर विधि (Cipher method) फ्रायड ने स्वप्न के प्रतीकों

(Symbols) के लिये कुछ अर्थ निश्चित कर रखा है, जिसके आधार पर हम जान सकते हैं कि स्वप्न का वास्तविक अर्थ क्या है। जैसे उसने बताया है कि स्वप्न में प्रायः माता पिता को रानी-राजा के रूप में; भाई बहिन इत्यादि को पशुओं तथा कीड़ों के रूप में; जन्म अथवा माता के प्रति सम्बन्ध को जल के रूप में; मृत्यु की यात्रा के रूप में; नग्नता कपड़े तथा यूनीफार्म के रूप में; पुरुष की जननेद्रिय छड़ी, लट्ठे, चाकू, भाला, पिस्तौल इत्यादि के रूप में, स्त्री की जननेन्द्रिय गड्ढे, सुराही, बोतल, बक्स तथा जेब इत्यादि के रूप में; स्त्री लकड़ी, कागज, टेबुल तथा पुस्तक के रूप में, और स्त्री का वक्षस्थल सेब या शफ्तालू के रूप में दिखाई पड़ता है। इन प्रतीकों की सहायता से हम यह ज्ञात कर सकते हैं कि स्वप्न-द्रष्टा की काम प्रवृत्ति का दमन किस रूप में हुआ है।

(३) मानसिक रोग

हमारे अन्दर दो प्रकार के रोग होते हैं, मानसिक और शारीरिक। मानसिक रोगों का कारण तो मानसिक विकार होता ही है, वरन् यह भी देखा गया है कि कुछ शारीरिक रोग भी मानसिक विकार अथवा भावना-ग्रन्थियों का प्रतिफल होते हैं; उदाहरण के रूप में यदि कोई व्यक्ति पहले अच्छी तरह बोलता था परन्तु अकस्मात् वह हकला कर बोलने लगा है और उसके बोलने में प्रयुक्त होने वाले शारीरिक अंगों में कोई दोष नहीं आया है, तो यह हो सकता है कि उसका हकला कर बोलना

किसी मानसिक विकार अथवा भावना-ग्रंथि के कारण हो।

अतः हम उन सब रोगों को मानसिक रोग कहते हैं, जिनके कारण मानसिक विकार है चाहे उस मानसिक विकार का प्रभाव हमारे मन तक ही सीमित रहे अथवा उसका प्रभाव शरीर पर भी प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ने लगे।

मानसिक रोग का कारणः—फ्रायड के सिद्धान्त के अनुसार मानसिक रोग का कारण कामवासना (Libido) की प्रकृत रूप में तुष्टि न होना है। सामाजिक आदर्शों के कारण इसका दमन हो जाता है और यह अचेतन मन में काम-भावना-ग्रन्थि (Sex-complex) बना लेती है जो हमारे मानसिक रोगों का कारण बन जाती है। चेतन मन के आदर्शों में तथा अचेतन की प्रकृत वासना-तृप्ति में संघर्ष चला करता है और यह सघर्ष ही मानसिक रोग का कारण बन जाता है। संघर्ष और दमन दोनों हमारे मानसिक स्वास्थ्य के लिये घातक हैं।

एडलर का कहना है कि मानसिक रोग काम-प्रवृत्ति के कारण नहीं वरन् आत्म-संस्थापन (Self-assertion) की मूल-प्रवृत्ति की अतुष्टि के कारण है। मनुष्य संसार में पैदा होकर अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति करना चाहता है, परन्तु जब वह समाज की विषमता के कारण ऐसा नहीं कर पाता है तो मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

युंग महोदय ने फ्राइड की कामवासना को बहुत व्यापक अर्थ में लिया है, उसका कहना है कि जब हमारी नैसर्गिक इच्छाएं समाज के वातावरण में संतुलन (Adjustment) नहीं कर पाती है, तो हमारे अन्दर भावना-ग्रन्थियाँ बन जाती हैं और ये हमारे अन्दर मानसिक रोग उत्पन्न कर देती हैं।

जैनेट कहता है कि मानसिक रोगों का कारण मनोविच्छेद (Dissociation of mind) अथवा व्यक्ति-विच्छेद (Disintegration of Personality) है। भावना-ग्रंथियों के कारण व्यक्ति के अन्दर कई व्यक्तित्व कार्य करने लगते हैं।

मानसिक रोगों का प्रकार:—मानसिक रोगों के दो मुख्य प्रकार हैं; एक है मनो-दौर्बल्य और द्वितीय है मनोविक्षेप। मनोदौर्बल्य की श्रेणी में स्नायविक रोग (Neurasthenia) भीतिरोग (Phobia) कल्पनाग्रह (Obsession) हठ प्रवृत्ति (Compulsion), चिंता रोग (Anxiety neurosis) और उन्माद (Hysteria) आते हैं। मनोविक्षेप की श्रेणी में स्थिर-भ्रम (Paranoia), असामयिक मनो-ह्रास (Dimentia Paracox) और उत्साह-विषाद-चक्ररोग (Manic Depressive Psychoses) आते हैं।

(क) मनोदौर्बल्य

(Psycho-neuroses)

व्यक्तित्व के संगठन (Integration of Personality) के

अभाव के कारण तथा व्यक्तित्व–विच्छेद (Dissociation) के कारण जो स्नायविक विकार उत्पन्न हो जाते हैं उसे हम मनो-दौर्बल्य कहते हैं। इस प्रकार के विकार में व्यक्ति में इतना मानसिक ज्ञान रहता है कि उसका अमुक कार्य तथा व्यवहार अनावश्यक तथा हास्यास्पद है। परन्तु उसके छोड़ देने की शक्ति उसमें नहीं रहती है, क्योंकि उसके व्यक्तित्व की इकाई भंग हो जाती है। वह चेतन मन और अचेतन मन के संघर्ष का शिकार हो जाता है।

इस रोग में मनुष्य मनोविक्षेप की भांति भ्रम का शिकार नहीं बन जाता है, उसे वाह्य जगत का ज्ञान बना रहता है और अपने व्यक्तित्व का भी ज्ञान बना रहता है। हां प्रायः उन्माद के रोग में रोगी अपने व्यक्तितत्व को भूल जाता है।

मनो-दौर्बल्य के मुख्य भेदों का भी संक्षिप्त वर्णन भी किया जा रहा है:—

स्नायविक रोग (Neuras-thenia) इस प्रकार की न्यूरोसिस में रोगी को शरीर में थकान, दर्द, नींद की कमी, कोलाहल अथवा तीव्र शब्दों से घबड़ाहट और अकारण रोग का अनुभव होता है। उपरोक्त स्नायविक रोगों का कोई शारीरिक कारण नहीं होता है; ये सब विकार मन की उपज हैं। इस रोग का कारण काम-वासना की अतृप्ति, हीनत्व की भावना-ग्रंन्थि तथा जीवन की वास्तविक परिस्थिति के साथ मुकाबला करने की अशक्तता

है। ऐसे व्यक्ति कल्पना-शील होते हैं, षडयन्त्र या स्कीमें बना सकते हैं, और अपराध में सक्रिय भाग नहीं लेते हैं ।

भीति-रोगः—किसी किसी व्यक्ति को अकारण कुछ चीजों से बड़ा भय मालूम पड़ता है, जैसे कुछ लोग जल से बहुत डरते हैं; कुछ अन्धकार से और कुछ लोग ऊपर से नीचे उतरने में ।

कल्पना-ग्रहः—इसमें अकारण कोई कल्पना मन में बैठ जाती है और व्यक्ति उसे मन से निकाल नहीं पाता है। यदि वह एक कल्पना से छुटकारा पा जाता है, तो दूसरी अकारण कल्पना उसके मन में अड्डा जमा लेती है; जैसे कोई व्यक्ति यह समझने लगे कि मुझे कोई रात को कत्ल कर डालेगा। इस में और भीति-रोग में यह अन्तर है कि भीति-रोग में भय का विषय उपस्थित रहता है और कल्पना-ग्रह में विषय (Stimulus) का अभाव रहता है। इस रोग से प्रभावित व्यक्ति कभी अकारण दूसरे पर हमला कर देता है, क्योंकि उस व्यक्ति से उसे अकारण भय है।

हठ-प्रवृत्तिः—कल्पनाग्रह में विचित्र कल्पना मन में रहती है और हठ-प्रवृत्ति में मनुष्य अकारण विचित्र क्रियायें किया करता है। जैसे बहुत से व्यक्ति अपने हाथ बार बार धोते हैं, यद्यपि हाथ धोने की आवश्यकता नहीं है। बहुत से लोग अपनी उंगलियाँ तथा पैर इत्यादि अकारण चलाया करते हैं। इस प्रकार

की क्रियायों को अचेतन मन में पड़े हुये किसी अपराध भाव (Sense of Guilt) का प्रतीकात्मक प्रकटीकरण माना गया है। यह रोग अतृप्त भावनाओं की प्रतीकात्मक तृप्ति का एक साधन है। इस रोग से पीड़ित अपराधियों में हम कोई विशेष सुधार जेल में रखकर नहीं कर पाते हैं। इनके स्वभाव में परिवर्तन करना मुश्किल होता है।

चिन्ता-रोगः—इस रोग में व्यक्ति अकारण चिन्ता किया करता है। साधारण चिन्ता हम परिस्थिति की कठिनाई के कारण करते हैं; परन्तु इस न्यूरोसिस के रोग में हम चिन्ता अकारण करते हैं। मनोविश्लेषण-वादियों का कहना कि हमारी दबी हुई इच्छा तथा काम प्रवृत्ति इस असाधारण चिन्ता के रूप में प्रकट होती है। इस रोग की चिन्ता हमारे मानसिक संघर्ष का परिणाम है। चिन्ता रोग में कभी कभी व्यक्ति आत्म-हत्या तक कर डालता है।

उन्मादः—इस रोग में मनुष्य के कुछ अंग तथा मांस पेशियाँ काम करना बन्द कर देती हैं या उनके कार्य में शिथिलता अथवा तीव्रता उत्पन्न हो जाती है; जैसे बेहोश होना, हँसना, रोना तथा निद्रा-विचरण (Somnabulism)। इस रोग में प्रायः मनुष्य अपने व्यक्तित्व पर अधिकार खो देता है। इसका कारण यह है कि काम-प्रवृत्ति की भावना-ग्रन्थि हमारे मन में विच्छेद (Dissociation) पैदा कर देती है। अतः हम अपने

शरीर पर अधिकार खो बैठते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि यह रोग जीवन की वास्तविकता से पलायन (Flight) मात्र है। निद्रा-विचरण की स्थिति में कुछ व्यक्तियों ने कई कत्ल एक साथ कर दिये हैं।

(ख) मनोविक्षेप

(Psychoses)

यह रोग मनोदौर्बल्य (Psycho-neuroses) की अपेक्षा अधिक दुःसाध्य है। इस रोग में मनुष्य के अन्दर अत्यन्त विक्षिप्तता (Abnormality) आ जाती है और उसका व्यवहार बिल्कुल पागल के समान मालूम पड़ने लगता है। इस रोग में मनुष्य का अपने व्यक्तित्व पर अधिकार नहीं रह जाता है; सोच विचार और निर्णय की शक्ति का नितान्त अभाव हो जाता है।

इस रोग में उपरोक्त दशा का कारण यह है कि हमारे अचेतन मन में दबी हुई इच्छायें तथा भावना-ग्रन्थियाँ इतनी शक्तिशाली हो जाती हैं कि वे चेतन मन अथवा अहं पर पूर्ण अधिकार कर लेती हैं। इस रोग में मनुष्य बाहरी संसार से अपना नाता तोड़ लेता है और अपने व्यक्तित्व को पूर्णतया अचेतन मन को सौंप देता है। अब इस रोग के मुख्य भेदों का संक्षिप्त उल्लेख किया जाता है।

स्थिर-भ्रमरोग—इस रोग का कारण आधारहीन भ्रम है; जैसे कोई व्यक्ति यह समझने लगे कि उसके हृदय में गति नहीं

है अथवा पुरुषत्व-हीन हो गया है। कभी ऐसा व्यक्ति यह समझता कि वह बहुत बड़ा दार्शनिक अथवा धर्म-वेत्ता है। इसी प्रकार अनेक भ्रम उसके व्यक्तित्व पर छाये रहते हैं। ऐसा व्यक्ति अपनी पत्नी के पातिव्रत पर अकारण संदेह करके उसकी हत्या तक कर सकता है।

असामयिक मनोह्रास—इस रोग में मनुष्य बाहरी संसार से बिल्कुल उदासीन सा हो जाता है। वाह्य वस्तुओं तथा विषयों (Stimulus) के प्रति कोई भी प्रतिक्रिया नहीं करता है, जैसे उसे किसी वस्तु से कोई मतलब ही नहीं है। वह अपने विचार में ही मस्त रहता है। इसका व्यवहार साधारण व्यक्ति से अत्यन्त भिन्न रहता है और बिल्कुल पागल सा ज्ञात होता है। ऐसे व्यक्ति अपने परिवार तथा समाज के प्रति अपने उत्तारदायित्व को ठीक ठीक अदा नहीं कर पाते हैं।

उत्साह-बिषाद्-चक्ररोग—इस रोग में व्यक्ति कभी उत्साह का और फिर सामान्य दशा का अनुभव करता है, अथवा व्यक्ति पहले उदास दिखाई पड़ता है फिर सामान्य दशा में आ जाता है। कभी कभी किसी व्यक्ति में उत्साह और विषाद का चक्र सा बन जाता है अर्थात् एक के बाद दूसरा आता रहता है। यह रोग हीनत्व की भावना-ग्रन्थि तथा आत्म-संस्थापन (Self (assertion) की प्रवृत्ति के संघर्ष का परिणाम है। ऐसे व्यक्ति

उत्साह या विषाद की तीव्रता में अकारण अपराध कर बैठते हैं।

(४) अपराध

जिस प्रकार हमारी भावना-ग्रन्थियाँ मानसिक रोग का कारण बनती हैं, उसी प्रकार वे सीधे अपराध का कारण भी बन सकती हैं। यदि हमारे अपराध का कारण हमारी आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थिति नहीं है, तो हो सकता है कि हमारे अपराध का कारण हमारे अचेतन मन का मानसिक-संघर्ष (Mental conflict) अथवा भावना-ग्रंथि हो। भावना-ग्रंथि के कारण अपराध करने वाले व्यक्तियों का सुधार उनकी आर्थिक परिस्थिति ठीक करके नहीं कर सकते हैं।

अनेक व्यक्ति अपराध शासन-भावना-ग्रन्थि के कारण करते हैं। कुछ व्यक्ति हीनता की भावना-ग्रन्थि के कारण अपराध करने लगते हैं। जो व्यक्ति अच्छे ढंग से अपना आत्मप्रकाशन नहीं कर सका है और अपनी हीनता से क्षुब्ध है, वह अपराध में अपनी शक्ति दिखा कर अपनी हीनता की तृप्ति करता है। बहुत से बालकों में सौतेली मां से संबंधित भावना-ग्रंथि बन जाती है जिसके कारण वह कक्षा में पढ़ने में ध्यान नहीं लगाता है। यदि अध्यापक उसे छेड़ता है तो वह अध्यापक के प्रति विद्रोह करने लगता है और धीरे पूरे स्कूल या समाज के प्रति विद्रोही बन जाता है। समाज के द्वारा बनाये

हुये नियमों का उल्लंघन करने में ही उसे संतुष्टि प्राप्त होती है। काम-भावना-ग्रंथि के कारण अनेक घातक अपराध होते रहते हैं। फ्रायड कहता है कि जब बालकों की काम-प्रवृत्ति का दमन बचपन में ही हो जाता है तो लड़कों में ऐडिपस भावना-ग्रंथि (Aedipus Complex) पिता के प्रति और लड़कियों में एलेक्ट्रा भावना-ग्रंथि (Elektra Complex) माता के प्रति बन जाती है। वे लड़के तथा लड़कियाँ पहले क्रमशः पिता तथा माता के प्रति विद्रोह प्रकट करते हैं, फिर उनके भावना-ग्रंथि का विषय पिता माता से समाज या उसके बनाये हुये नियमों पर हस्तान्तरित (Transfer) हो जाता है। इस प्रकार वे लड़के तथा लड़कियाँ क्रमशः एडिपस तथा एलेक्ट्रा भावना-ग्रंथियों के कारण बड़े होने पर समाज-विरोधी कार्य अथवा अपराध करने लगते हैं। कुछ लोगों में संग्रह-प्रवृत्ति अथवा स्वामित्व-भाव के दब जाने के कारण क्लेप्टोमैनिया (Kleptomania) की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण वे पर्याप्त धन होने पर भी चोरी के प्रलोभन से अपने को नहीं बचा पाते हैं। इस प्रकार अनेक अपराधों के मूल में हमारी भावना-ग्रंथियां होती हैं।

मानसिक चिकित्सा

(Psycho-therapy)

समाज का वातावरण ऐसा होना चाहिए कि प्रकृत इच्छाओं का दमन न करते हुये उनका शोध (Sublimation) कर

दिया जाय, जिससे असामान्य व्यवहार का कारण ही न उत्पन्न हो। रोग की रोक-थाम उपचार से अच्छी समझी जाती है। उचित सामाजिक ढ़ाँचे के अभाव में मानसिक चिकित्सा के द्वारा हम विक्षिप्त व्यवहार को ठीक कर सकते हैं। उसके मुख्य उपाय नीचे बताये जा रहे हैं।

१—सम्मोहन तथा स्वतन्त्र मनः आयोजन
(Hypnosis and Free-Association)

इसविधि में मनोविश्लेषण के द्वारा भावना-ग्रन्थियों का पता लगा कर उन्हें दूर करना होता है। इस कार्य को हर एक व्यक्ति नहीं कर सकता है, अर्थात् मनोविश्लेषक ही इसका विशेषज्ञ होता है और वही उसे कर सकता है। मनोविश्लेषण के लिये सब से पहिले सम्मोहन (Hypnosis) की विधि का प्रयोग होता था। सम्मोहन की अवस्था में अचेतन मन की गहराई में छिपी हुई उन भावनाओं का पता लगाया जाता था, जो असामान्य व्यवहार का कारण हैं, तथा उस सम्मोहन की दशा में उसको ऐसा निर्देश (Suggestion) दे दिया जाता था, कि वह व्यक्ति अपने मानसिक रोग तथा असामान्य व्यवहार से मुक्त हो जाता था। अब इस विधि को अधिक उपयुक्त नहीं समझा जाता है। मनोविश्लेषणवादी दूसरी विधि स्वतन्त्र मनः आयोजन (Free Association) का प्रयोग करते हैं जिसमें विक्षिप्त व्यक्ति से स्वतन्त्रता के साथ अपने मन में आई हुई बातों को

प्रकट करने को कहा जाता है। कभी कभी कुछ विशेष मार्मिक शब्दों को उसके सामने कहा जाता है और उससे उन शब्दों के सम्बन्ध में अपने विचार या कुछ शब्द व्यक्त करने को कहा जाता है। व्यक्ति के इन विचारों तथा शब्दों से उसकी उलझनों तथा समस्याओं का पता लग जाता है, जो कि उस व्यक्ति के अचेतन मन में घर किये हुये है। रोग के सही कारण के निदान होने पर रोगी को अच्छा किया जा सकता है।

२--निर्देश
(Suggestion)

यह भी एक मानसिक चिकित्सा की विधि है। यह निर्देश सम्मोहन की अवस्था में नहीं दिया जाता है, वरन् इसमें चेतना की सामान्य अवस्था रहती है। निर्देश करने वाला व्यक्ति ऐसा होना चाहिये, जिस पर विक्षिप्त व्यक्ति का विश्वास हो। निर्देश के प्रभाव से कुछ मानसिक रोग दूर हो जाते हैं और व्यक्ति परिस्थितियों के साथ संतुलन (Adjustment) स्थापित कर लेता है। जब विक्षिप्त व्यक्ति में कुछ सुधार होने लगे तो उसमें पर निर्देश की दासता के स्थान पर आत्म-निर्देश की शक्ति उत्पन्न करना चाहिये जिससे वह दूसरों की सहायता का ही दास न रहे, और वह स्वयं अपने व्यक्तित्व का संगठन कर सके।

३—पुनर्शिक्षण
(Re-education)

यह भी एक मानसिक चिकित्सा की विधि है। इस विधि के

द्वारा भी विक्षिप्त व्यक्ति के अन्तर्जगत और वाह्य-जगत में जो विच्छेद हो गया है, उसमें संतुलन स्थापित किया जाता है। इस विधि का फ्रैंज (Franz) महोदय ने बड़ी सफलता के साथ प्रयोग प्रारम्भ किया था। जिस प्रकार साधारण व्यक्ति के लिये विद्यालयों की शिक्षा आवश्यक है, उसी प्रकार विक्षिप्त व्यक्तिके लिये पुनर्शिक्षण की आवश्यकता हैं। इस विधि के द्वारा असाधारण अथवा विक्षिप्त व्यक्ति की प्रकृत इच्छाओं को समाज के अनुकूल व्यवहारों में ढालने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें चिकित्सक सर्व प्रथम यह पता लगाता है कि मनोविच्छेद (Mental Dis-integration) अथवा व्यक्तित्व का विच्छेद (Diss-ociation) किस प्रकार हुआ है। जब भावना-ग्रंथियों का पता लग जाता है, तब उसे यह लगातार शिक्षा दी जाती है कि वह अपनी नैसर्गिक इच्छाओं को दबाने के बजाय उनमें शोध उत्पन्न करे अथवा नैतिक दृष्टि से उन्हें उचित मार्गों में प्रवाहित करें। इसके अतिरिक्त उस व्यक्ति का पथ-प्रदर्शन भी किया जाता है, कि किस प्रकार और किन मार्गों में वह अपनी इच्छा को उचित रूप से प्रयुक्त करे। मानसिक रोगी के अन्दर अपने असाधारण व्यवहार को छोड़ने की प्रवृत्ति उत्पन्न करना कठिन होता है, क्योंकि वह अपने असाधारण व्यवहार को असाधारण समझता ही नही है। अतः दूसरे की सलाह की वह सदैव अवहेलना करता है। इसलिये चिकित्सक का व्यक्तित्व शक्ति-शाली और आदर्श होना चाहिये और उसे मानसिक रोगी के पुनर्शिक्षण का

का कार्य बड़े धैर्य के साथ करना चाहिये।

४—विश्राम

(Relaxation)

इस विधि का प्रतिपादन करने वाले जैनेट महोदय है, उनका विचार है कि व्यक्तित्व-विच्छेद का मुख्य कारण शक्ति का अभाव है। अतः विश्राम के द्वारा शक्ति का व्यय बन्द करके उसका संचय किया जाना चाहिये। विक्षिप्त व्यक्ति को सामान्य पुरुष से अधिक शक्ति की आवश्यकता होती है, क्योंकि उसकी बहुत सी शक्ति सांसारिक कार्य न करने पर भी मानसिक संघर्ष में खर्च हो जाती है। अतः मानसिक रोगी के लिये विश्राम बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। बहुत से मनोवैज्ञानिक इसे स्वतन्त्र विधि मानने को तैयार नहीं है, वे केवल इसकी उपयोगिता सहायक विधि के रूप में ही मानते है।

प्रश्न

१—अचेतन मन किसे कहते हैं? उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालो।

२—हमारे अचेतन मन में दबी हुई इच्छायें तथा भावना-ग्रंथियां किस प्रकार असामान्य व्यवहार का कारण बनती हैं और वे किस रूप में प्रायः प्रकट होती हैं?

३—स्वप्न का मनोवैज्ञानिक कारण क्या है? स्वप्न-विश्लेषण से

व्यक्ति के मानसिक संघर्षों तथा उलझनों का किस प्रकार पता चलता है ?

४—मनो-दौर्बल्य किसे कहते हैं, उसका निदान तथा उपचार किस प्रकार होता है ?

५—मनोविक्षेप और मनोदौर्बल्य के मानसिक रोगों में क्या अन्तर है, मनोविक्षेप के मानसिक रोगों के मुख्य लक्षणों पर प्रकाश डालो ?

६—अपराध व्यक्तित्व-विच्छेद तथा मानसिक असंतुलन का परिणाम है, इस कथन पर अपना मत प्रकट कीजिए।

७—मानसिक चिकित्सा (Psycho-Therapy) किसे कहते हैं, इसकी मुख्य विधियों पर प्रकाश डालो।

अध्याय १२

समूह-व्यवहार

(Group Behaviour)

पिछले अध्यायों में इस बात की विशेष व्याख्या की गई है कि किस प्रकार एक व्यक्ति भिन्न परिस्थितियों में भिन्न २ प्रेरणाओं के कारण भिन्न भिन्न प्रकार का व्यवहार करता है। इस अध्याय में इस बात की व्याख्या की जावेगी कि किस प्रकार एक समूह संगठित होकर एक इकाई की भाँति कार्य करता है, मानों सम्पूर्ण समूह एक व्यक्ति के समान ही व्यवहार कर रहा हो। जब तक समूह का प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत प्रेरणाओं से कार्य करता है, तब तक उसका व्यवहार व्यक्तिगत व्यवहार है, और समूह व्यवहार (Group behaviour) के अन्तर्गत नहीं आता है; लेकिन ज्योंही कोई व्यक्ति समूह-प्रेरित मनोवृत्तियों के आधार पर कार्य करने लगता है और उसका अपना व्यक्तित्व पार्श्व (Back ground) में चला जाता है, त्योंही उसका व्यवहार समूह-व्यवहार के अन्तर्गत आ जाता है। एक उदाहरण लेने से ऊपर के सिद्धान्त की पुष्टि हो जायेगी। एक बाज़ार में भिन्न भिन्न

व्यक्ति अपना कार्य करते हैं, अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुएँ खरीद रहे हैं या अन्य कोई कार्य कर रहे हैं, परन्तु इतने में ही अचानक एक बदमाश एक असहाय अबला पर हमला कर देता है, तमाम बाज़ार के आदमी उस बदमाश पर टूट पड़ते हैं और अबला को उसके चंगुल से बचा लेते हैं। वे बाज़ार के आदमी जो थोड़ी देर पहले अलग-अलग अपने २ कार्य को कर रहे थे, यकायक सब एक में संगठित होकर एक ही प्रकार की ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया से प्रभावित हो गए। सब के मन में एक प्रकार की विचार धारा तथा भाव उदय हो गए और सब एक ही प्रकार का कार्य करने लगे; मानों सब व्यक्तियों के मन, एक मन में बदल गए हों; तभी तो सबके अन्दर एक ही तरह का ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया हो रही है। उस प्रकार के व्यवहार को समूह-व्यवहार (Group behaviour) कहते हैं, और इससे सम्बंधित मनोविज्ञान को समूह-मनोविज्ञान कहते हैं।

समूह-चेतना—(Group consciousness):—ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो गया है कि जिस प्रकार एक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत चेतना के अस्तित्व का अनुभव करता है, उसी प्रकार वह एक समूह के साथ संगठित होकर समूह चेतना का भी अनुभव करता है। पूरा समूह इस प्रकार एक में मिलकर कार्य करने लगता है; जैसे मिट्टी के कण जो अलग अलग थे, गीले होकर एक में मिल गए हों। इसी कारण कुछ मनोवैज्ञानिक समूह-

मन (Group mind) के अस्तित्व को भी मानते हैं। उनका कहना है कि जब समूह-चेतना का हम अनुभव करते हैं, तो समूह मन के मान लेने में क्या आपत्ति है। व्यक्तियों के संगठित होने से ही समूह-मन और समूह-चेतना का प्रादुर्भाव होता है और समूह के छिन्न भिन्न होते ही इस समूह-मन तथा समूह-चेतना का अस्तित्व खत्म हो जाता है और समूह का प्रत्येक व्यक्ति फिर स्वतन्त्र रूप से अपने व्यक्तिगत मनकी प्रेरणा से काम करने लगता है। जब तक समूह संगठित रूप से कार्य करता रहता है, उस समय तक उसका प्रत्येक व्यक्ति अथवा सदस्य का ज्ञान (Thought), भाव (feeling) तथा व्यवहार (Action) वहीं रहता है, जो पूरे समूह का रहता है।

यहाँ पर यह भी स्पष्ट कर देना उपयुक्त होगा कि समूह-मन से जो कार्य प्रेरित होते हैं, वे उन कार्यों से प्रायः भिन्न होते हैं जो एक व्यक्ति अपने मन के द्वारा स्वतन्त्र रूप से करता है। यह देखा गया है कि सामूहिक-क्रियाएँ या तो व्यक्तिगत क्रियायों से उच्च प्रकार की होती हैं या निम्नतर होती हैं। एक सामान्य व्यक्ति एक अच्छे आदर्श-वादी समूह में पड़कर अच्छे कार्य की ओर अग्रसर हो जाता है और एक शान्तप्रिय व्यक्ति बुरे समूह के प्रभाव में आकर घृणित कार्य कर डालता है। धार्मिक झगड़ों के समय सदाचारी व्यक्ति भी समूह-चेतना के वशीभूत होकर दूसरों की हत्या तक कर डालते हैं। जो कभी घातक अस्त्रों का

छूना भी पाप समझते थे, समूह-आवेश में आकर उनका घातक प्रयोग करने लगते हैं, इसी को तो भीड़ चेतना (Mobment-ality) कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि समूह का उद्देश्य तथा उसका प्रकार अपने सदस्य के आचरण को ऊपर भी उठा सकता है और नीचे भी गिरा सकता है। सेवा-समिति अथवा अस्पताल जैसे संगठन व्यक्तियों के मानवता के स्तर को ऊपर उठाते हैं, परन्तु साम्प्रदायिक संघ दूसरे सम्प्रदायों के प्रति घृणा का प्रचार करते हैं तथा डाकुओं इत्यादि के गिरोह क्रूरता का प्रचार करते हैं और अपने गिरोह के व्यक्तियों की मानवता को बहुत नीचे गिरा देते हैं। समूह का अच्छा या बुरा होना, उसके उद्देश्य, उसके नेता तथा उसके सदस्यों के प्रकार पर निर्भर है।

समूह के प्रकार–(Kind of Group):—उद्देश्य की दृष्टि से समूह का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जाता है:—

१—भीड़ (Crowd)

२—समिति (club)

३—समाज (Community)

भीड़:—भीड़ सबसे निम्न प्रकार का समूह होता है। इसका उद्देश्य क्षणिक होता है और इसका कार्य भी थोड़े समय के लिए होता है, परन्तु संख्या का प्रभाव कार्य की गम्भीरता पर पड़ता है। एक भीड़ किसी घटना के कारण एक जगह पर इकट्ठा

हो जाती है और वह एक भावावेश में एक विशेष प्रकार का कार्य करने लगती है। किसी अफवाह के कारण, किसी एक व्यक्ति के प्रभावशाली भाषण के कारण तथा किसी आकस्मिक घटना के कारण एक महान भीड़ समुद्र की तरह उमड़ पड़ती है। यदि यह भीड़ किसी कारण क्षुब्ध हुई, तो वह कभी अनेक समाज-विरोधी कार्य भी करने लगती है। यकायक विद्यार्थियों या मजदूरों की हड़तालें तथा आकस्मिक झगड़े इसी भीड़ मनोवृत्ति (Mob mentaliy) के परिणाम हैं। भीड़ के काम प्रायः निम्न कोटि के इसलिए होते है, कि भीड़ में लोग मूल-प्रवृत्तियों के प्रभाव में आ जाते हैं। भीड़ के व्यक्तियों में मूल-प्रवृत्तियां ही सब को एक शृंखला में बांधे रहती हैं। व्यक्तियों के अपने आदर्श भिन्न भिन्न होते हैं, अतः उन व्यक्तियों के अलग अलग आदर्श भीड़ को संगठित करने में असमर्थ होते है। विवेक के अभाव में तथा संवेग के प्रभाव में मूल प्रवृत्तियाँ प्रायः बुरे कार्यों की ओर अग्रसर करती है; यही कारण है कि भीड़ में पड़कर लोग अनुचित कार्य करने लगते हैं।

समिति (Club):—इस प्रकार के समूह का उद्देश्य भीड़ के समान क्षणिक नहीं होता है। इसके उद्देश्य में कुछ अधिक स्थायित्व होता है। उद्देश्य की प्राप्ति के लिए समिति या क्लब के सदस्य कुछ अधिक स्थायी प्रयत्न करते हैं। यद्यपि क्लब या सीमति का उद्देश्य भीड़ की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है,

परन्तु यह एक सीमित उद्देश्य को लेकर चलती है। इसका सम्बन्ध जीवन के एक या दो पहलू से ही होता है, जीवन की विविध समस्याओं को सुलझाना इसका उद्देश्य नहीं होता है। इसके सदस्यगण जीवन के एक सीमित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आपस में मिलते जुलते हैं और प्रयत्न करते हैं। समिति के उद्देश्य अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे मनोरंजन, स्वास्थ्य-सुधार तथा कोई अनुसंधान सम्बन्धी कार्य इत्यादि। चोरों तथा डाकुओं के गिरोह भी इस प्रकार के समूहों में आ जाते हैं, जिनका उद्देश्य विशेष प्रकार से दूसरों के माल का अपहरण होता है। ऐसे गिरोह के सदस्य लूट के कार्य के समय एक हो जाते हैं, अन्यथा अन्य बातों में वे स्वतन्त्र रूप में कार्य करते हैं।

समाज [Community]:—इस प्रकार के समूह का उद्देश्य अत्यन्त व्यापक होता है। इसमें स्थिरता का अंश भी बहुत होता है। समाज का उद्देश्य सम्पूर्ण जीवन की उन्नति करना होता है। यह जीवन की अनेक समस्याओं के सुलझाने का प्रयत्न करता है। समाज के सदस्य बनने से व्यक्ति अपने व्यक्तिगत उद्देश्यों की प्राप्ति करते हुए भी समाज-हित की पूर्ति कर सकता है।

जिस समूह का सांस्कृतिक स्तर गिरा हुआ होता है और जो व्यक्ति अपने अपने स्वार्थों की सिद्धि में ही लगे रहते हैं उस समूह का विकास समाज के रूप में नहीं होपाता है। देश की गुलामी

का सामाजिक जीवन (Community life) पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। हमारे ग्रामों में सदियों की गुलामी के कारण सामाजिक जीवन तथा सामूहिक प्रयत्न का अत्यन्त अभाव हो गया है अतः हमारी सरकार आजकल सामाजिक विकास योजनाओं (Community Projects) को कार्यान्वित करने का प्रयत्न कर रही है। नागरिकता तथा राष्ट्रीयता जैसी भावनाएँ समाज जैसे समूह के संगठन में सहायता करती हैं। ग्राम-पंचायत, म्युनिसपैलिटी, राष्ट्र इत्यादि ऐसे संगठन हैं, जो समाज के व्यापक विकास को लेकर चलते हैं।

जिस देश के निवासियों का संगठन एक अच्छे समाज तथा राष्ट्र के रूप में होता है, वहाँ सहकारिता, सद्भावना तथा नागरिकता जैसे सद्गुणों की उत्पत्ति होने लगती है और व्यक्तिगत तथा सामूहिक अपराधों का अभाव होने लगता है। अपराध की वृद्धि का एक प्रधान कारण सामाजिकता का अभाव अथवा स्वार्थपरता की वृद्धि भी होता है। देश के सांस्कृतिक स्तर को उठाने के लिये देशवासियों का समाज अथवा राष्ट्र के रूप में संगठित होना अत्यन्त आवश्यक है।

समूह के संगठन का मनोवैज्ञानिक आधार (Psychological basis for group organization)—अब यहाँ पर यह विचार करना है कि व्यक्ति समूह-संगठन क्यों करता है

और व्यक्ति क्यों समूह-चेतना से अभिभूत होकर समूह के अनुकूल कार्य करने लगता है ?

मनुष्यों में कुछ ऐसी जन्मजात प्रवृत्तियां पाई जाती हैं, जो मनुष्य को समाज में रहने के लिये वाध्य कर देती हैं और जिन प्रवृत्तियों की तृप्ति बिना समाज में रहे हुये नहीं हो सकती है। ये प्रवृत्तियाँ निम्नांकित हैं:—

१—सामूहिकता (Gregarious instinct)

२—आत्म-प्रकाशन (Self-assertion)

३—आत्महीनता (Submission)

४—निर्देश (Suggestion)

५—सहानुभूति (Sympathy)

६—अनुकरण (Imitation)

सामूहिकता, आत्म-प्रकाशन तथा आत्महीनता की प्रवृत्तियां समूह-निर्माण के अत्यन्त आवश्यक आधार हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है उसे अकेले रहने में कष्ट होता है, वह एक समूह में रहे विना नहीं रह सकता है। वह समूह चाहे स्वाभाविक (जैसे परिवार इत्यादि) हो या कृत्रिम (जैसे श्रम-संघ इत्यादि) हो। जब मनुष्य समाज में पलता है, तो वह अपने आत्म-गौरव को प्रकाशित करना चाहता है; वह अपने गुणों को प्रकट किये बिना नहीं रह सकता है, ऐसा आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति के कारण होता है। आत्म प्रकाशन की प्रवृत्ति अधिक

विकसित होनेसे व्यक्ति नेता का रूप ले लेता है। नेता के नेतृत्व के लिये कोई न कोई समूह अथवा समाज होना चाहिये। व्यक्तियों में आत्महीनता या दैन्य भावना भी होती है। इसके कारण हम दूसरों की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं और दूसरों को नेता के रूप में मान लेते हैं। यदि यह प्रवृत्ति हमारे अन्दर न होती तो हम कभी भी दूसरों का नेतृत्व न मानते और किसी भी नेता को अपनी नेतागीरी दिखाने के लिये अनुयायी न मिलते। इस प्रकार उपरोक्त तीनों प्रवृत्तियाँ क्रमशः समूह, नेता तथा अनुयायियों के निर्माण के लिये प्रेरणा प्रदान करती है। इन प्रवृत्तियों के कारण एक समूह बनता है, उसका कोई न कोई नेता उठ खड़ा होता है और कुछ व्यक्ति नेता के अनुयायी बन कर एक संगठित समूह बना देते हैं।

निर्देश (Suggestion), सहानुभूति (Sympathy) और अनुकरण (Imitation) की प्रवृत्तियां समूह को गति प्रदान करती हैं, उसके अन्दर एक चेतना, एक भाव-संचार और एक क्रिया की प्रेरणा करती हैं। निर्देश की प्रवृत्ति के कारण नेता के विचार पूरे समूह के विचार हो जाते हैं और समूह की विचार धारा (Mass Suggestion) का शिकार उस समूह में नया आया हुआ प्रत्येक व्यक्ति हो जाता है। पाठकों ने यह देखा ही होगा कि समूह में एक व्यक्ति के भाव दूसरे के भाव हो जाते हैं। जब किसी घटना के कारण कुछ व्यक्ति दुःखी होकर आँसू

बहाते हैं, तब अन्य व्यक्ति भी इस भाव से प्रभावित हुये बिना नहीं रहते हैं। यह भाव-संचार सहानुभूति की प्रवृत्ति के कारण ही होता है। अनुकरण की प्रवृत्ति के कारण ही एक व्यक्ति की देखा देखी अन्य व्यक्ति भी वैसा ही कार्य करने लगते हैं।

समूह में नेता की स्थिति—समूह में नेता की स्थिति बहुत ही महत्व-पूर्ण होती है। नेता के विचार, भाव और कार्य पूरे समूह के विचार, भाव और कार्य हो जाते हैं। संगठित समूह के विचार, भाव और कार्यों में एक विशाल शक्ति होती है। अतः यदि किसी संगठित समूह का नेता अच्छा हुआ, तो वह समूह समाज-हितैषी कार्य करता है, अन्यथा उसके द्वारा अनेक समाज-विरोधी तथा घातक कार्य होने लगते हैं। आपने देखा ही होगा कि नेता की एक ही आवाज़ पर किस प्रकार लोग देश पर बलिदान हो जाते हैं अथवा धर्म के नाम पर जिहाद बोल देते हैं, अथवा आवेश में आकर डाक तार इत्यादि के कार्य में अव्यवस्था उत्पन्न कर देते हैं।

समूह-नियंत्रण के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक बातें—

ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि व्यक्ति समूह के रूप में संगठित हुये बिना नहीं रह सकते हैं; समूहों का निर्माण अवश्यम्भावी है। यदि समूह ने उचित नियंत्रण में रह कर काम न किया, तो समूह के कारण अनेक घातक सामूहिक अपराध हो जाते हैं। अब यह देखना है कि समूह का उचित नियंत्रण किस

प्रकार किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित औपचारिक कार्यवाही अत्यन्त आवश्यक है:—

जनता का शैक्षिक (Educational) तथा सांस्कृतिक स्तर ऐसा होना चाहिये कि बुरे समूहों के निर्माण की संभावना कम हो जाय। शिक्षित तथा सभ्य व्यक्तियों से बनाया गया समूह अपना नियंत्रण स्वयं करता है, उसके नियंत्रण के लिये पुलिस को हस्तक्षेप नहीं करना पड़ता है।

देश में आर्थिक तथा सामाजिक असमानता तथा बेकारी को दूर कर देना चाहिये, जिससे समाज में विद्रोह-भावना का अभाव हो जाय और समाज-हितैषी समूह का निर्माण हो सके।

देश में सामाजिक जीवन (Community life) का विकास करना चाहिये; ऐसी दशा में समूह-नियंत्रण की समस्यायें कम उत्पन्न होती हैं।

ऊपर तीन उपाय ऐसे बताये गये हैं, जिससे अनैतिक समूह बनने ही न पावे। परन्तु यह देखा गया है कि ऐसा आदर्श-वादी (Idealistic) समाज बनना अत्यन्त मुश्किल है, जिसमें अनैतिक समूह का नितान्त अभाव हो जाय। यदि कोई अनुचित समूह बन जाय, तो सर्वप्रथम कार्यवाही यह करनी चाहिये कि उस का नेतृत्व बदल दिया जाय। जो जनता बुरे लीडर के

नेतृत्व में बुरे कार्य कर रही थी वही अच्छे नेता के प्रभाव में आकर अच्छे कार्य करने लगती है। हम बुरे तथा समाज-विरोधी कार्य करने वाले नेताओं को इसी दृष्टि से जनता के बीच से हटा कर नजरबंद कर देते हैं; जिससे उसके अभाव में जनता उचित नेतृत्व को पा सके।

जब तक किसी समूह पर हमारा प्रभाव न हो, उसे किसी प्रकार का निर्देश (Suggestion) अथवा आदेश देना व्यर्थ होता है। प्रायः ऐसे आदेश का प्रभाव विपरीत-निर्देश (Contra Suggestion) के रूप में पड़ता है और समूह आवेश में आकर हमारे आदर्शों के विपरीत कार्य करने लगता है। हमें जो कुछ कहना हो, ऐसे व्यक्ति से कहलावें जिसका उस समूह पर पर्याप्त प्रभाव हो अथवा जो उस समूह में प्रतिष्ठित समझा जाता हो। छात्रों तथा पुलिस का संघर्ष प्रायः इसी कारण हो जाता है।

किसी समूह को वश में करने लिये उसके नेता या नेताओं को वश में करना उचित होता है। नेताओं को वश में करने के लिये तथा उन्हें अपनी विचारधारा के अनुकूल करने के लिये बातचीत तथा समझौते से ही पहले काम लेना चाहिये। बाद में आतंक, प्रलोभन तथा दण्ड-भय इत्यादि से भी काम लिया जा सकता है।

कुछ लोग बुरे समूह का नेतृत्व सीधे तरीके से नहीं करते हैं वरन् धन या जन इत्यादि से सहायता देकर समूह को बल

प्रदान करते हैं। ऐसे लोगों पर उचित दृष्टि रखनी चाहिये, क्योंकि उनकी सहायता के समाप्त होते ही समूह का कार्य अपने आप ठप हो जाता है।

किसी समूह के भङ्ग करने में कूटनीति का भी प्रयोग करना पड़ता है। भेद-नीति के द्वारा हम उसके नेतृत्व में विभाजन उत्पन्न कर सकते हैं। जिस समूह का अबतक एक नेता था, कई नेता हो जाने से समूह छिन्न भिन्न हो जाता है।

कोई समूह जब सामूहिक अपराध कर रहा हो अथवा करने जा रहा हो, उस समय अन्य उपायों के असफल होने पर शक्ति का प्रयोग अवश्य करना चाहिये; परन्तु शक्ति का प्रयोग आवश्यकता से अधिक न होने पाये। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि शक्ति का प्रयोग करने के पहले यह देख लिया जाय कि किसी समूह को दबाने के लिए प्रर्याप्त शक्ति आपके पास है या नहीं। पर्याप्त शक्ति का आयोजन कर लेने पर ही उसका प्रयोग श्रेयस्कर होता है।

उत्तर-प्रदेश के पुलिस विभाग ने चोर, डाकुओं तथा अन्य उच्छृंखल समूहों को दबाने तथा नष्ट करने के लिए ग्राम-रक्षा-समितियां [Village Defence Societies] बनाई हैं, ये बहुत सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं। ऐसी समितियां जनता को अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाती हैं और जनता में स्वयं

अपराध की रोक-थाम की प्रवृत्ति पैदा करती है। ग्राम-पञ्चायतों का बनना भी इस दृष्टि से अच्छा है। जब ग्राम-पञ्चायतें तथा ग्राम-रक्षा-समितियां ठीक-ठीक अपना कार्य करेंगी, तो गांवों में उच्छृंखल समूह नहीं बन पावेंगे और यदि बन भी गए, तो तुरन्त पुलिस उन्हें जान जायगी और वह उन्हें नियन्त्रित करने की शीघ्र कार्यवाही कर सकती है।

प्रश्न

१—समूह किसे कहते हैं? समूह कितने प्रकार के होते हैं; उनके उद्देश्यों तथा मनोवृत्तियों में क्या अन्तर होता है?

२—समूहों के निर्माण में कौन-कौन सी प्रवृत्तियां कार्य करती हैं और वे किस प्रकार समूह व्यवहार का संचालन करती हैं?

३—समूह-चेतना किस प्रकार पैदा होती है, समूह-व्यवहार के संचालन में नेता का क्या स्थान है?

४—किसी उच्छृंखल समूह को नियंत्रित करने के क्या उपाय हैं?

५—'उत्तम सामाजिक जीवन (Community life) से ही राष्ट्र प्रगतिशील होता है' इस कथन की व्याख्या कीजिए।

अध्याय १३

अपराध

[Criminal Behaviour]

यद्यपि पिछले अध्यायों में मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के वर्णन के सम्बन्ध में अपराध का उल्लेख आया है, परन्तु अभी तक अपराध की क्रमवद्ध व्याख्या नहीं की गई है; इस उद्देश्य की पूर्ति इस अध्याय में की जा रही है।

अपराध का स्वरूपः—हम प्रत्येक मनुष्य के व्यवहार को दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं; एक सामाजिक व्यवहार कहलाता है और दूसरे को समाज-विरोधी (Anti-Social) कहते हैं। समाज-विरोधी कार्यों में साधारण झूठ बोलने (Ordinary lie) से लेकर मनुष्य की हत्या तक आते हैं। प्रत्येक समाज-विरोधी कार्य को अपराध की श्रेणी में नहीं गिनते हैं। कोई समाज-विरोधी कार्य तब अपराध कहलाता है, जब वह समाज के लिये अधिक घातक होने के कारण कानून की दृष्टि से भी दण्डनीय घोषित कर दिया जाता है।

अपराध की श्रेणी में गिने जाने वाले व्यवहार का कोई एक स्थिर या निश्चित स्तर नही हैं। व्यक्तियों का कौन सा व्यवहार अपराध समझा जावेगा, यह सर्व प्रथम देश की सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थिति पर निर्भर होता है। इसके अतिरिक्त प्रशासन की बागडोर किस राजनैतिक पार्टी के हाथ में है अथवा प्रशासन किस प्रकार का है, तानाशाही है या प्रजातन्त्रात्मक है, इस बात का भी अपराध की श्रेणी तय करने में प्रभाव पड़ता है। यह हो सकता है कि प्रशासन चलाने वाली बहुमत पार्टी जिस कार्य को समाज के लिये घातक एवं अपराध समझती है, उसको अल्पमत पार्टी देश के लिये हितकर समझती हो। यह भी हो सकता है जो कार्य कल तक अपराध समझा जाता हो, वह आज देश की परिस्थिति बदल जाने पर अपराध की श्रेणी से हटा दिया जाय अथवा जो कार्य कल तक अपराध की श्रेणी में नही गिना जाता था, आज अपराध समझा जाने लगे इस प्रकार हम देखते हैं कि देश की सामाजिक; राजनैतिक तथा सांस्कृतिक स्थिति के अनुसार अपराध का स्वरूप बदलता रहता है। ज्यों ज्यों देशों में सभ्यता का विकास होता गया, त्यों त्यों अपराध का स्वरूप भी निश्चित होता गया। वे सभी कार्य अपराध की श्रेणी में गिने जाने लगे, जो समाज-व्यवस्था में गड़बड़ी पैदा करते हैं और उन कार्यों के लिये अपराधियों को दण्डित करने के लिये एक दण्ड-संहिता (Penal Code) की भी रचना करदी गयी है।

प्रत्येक सभ्य समाज ने आजकल अपराधों की निम्नलिखित श्रेणियां निश्चित की हैं। भारतीय-दण्ड--संहिता (Indian Penal Code) में भी इन श्रेणियों से मिलती जुलती श्रेणियां मान्य समझी गयीं हैं:—

(१) राज्य के प्रति अपराध (Offences against the State)—इस प्रकार के अपराधों में सेना के प्रति; लोक-सेवकों के प्रति; मुद्रा के प्रति, देश शान्ति, सुरक्षा तथा स्वास्थ्य के प्रति अपराध आ जाते हैं।

२—धर्म के प्रति अपराध
३—मानव-शरीर के प्रति अपराध
४—धन के प्रति अपराध
५—वैवाहिक-सम्बन्ध के प्रति अपराध
६—मान-हानि के प्रति अपराध

अपराध से जिस मात्रा में समाज को हानि पहुँचती है; उसी मात्रा में उस अपराध के लिये दण्ड की भी व्यवस्था की जाती है।

अपराध के कारणों के सम्बन्ध में अपराध-शास्त्रियों में मतभेद:—

प्राचीन समय से अपराध-शास्त्रियों (Criminologists) ने अपराध के कारणों के सम्बन्ध में अनेक मत प्रतिपादित किये हैं। किसी ने अपराध के कारणों में किसी पक्ष पर जोर दिया है

और किसी ने अन्य पक्ष को अधिक महत्व दिया है। इन पक्षों को ठीक ठीक समझने के लिए यहां पर अपराध-शास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों का (Main theories of criminology) का सक्षिप्त उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। कुछ लोगों का प्राचीन समय में कहना था कि अपराध का कारण मनुष्य के अंदर शैतान का प्रवेश हो जाना है, और वही शैतान मनुष्य से अपराध करवाता है, इस दृष्टि से ऐसे अपराधी को सजा देना ईश्वरी न्याय (God's justice) समझा जाता था। कुछ लोगों का विचार है कि अपराध करने वाला शैतान से प्रभावित व्यक्ति नहीं हैं वरन वह भी अन्य व्यक्तियों के समान साधारण व्यक्ति हैं, जो सुख दुख के सिद्धान्त (Principle of Pleasure and pain) से प्रभावित होकर अपने कार्यों को करता रहता है। वह चोरी इस लिये करता है कि उसे चुराये हुये धन से जो सुख प्राप्त होता है वह दण्ड से प्राप्त दुख से अधिक मात्रा में समझता है। अतः अपराध उसके सुख और दुख के संतुलन का फल है। लोमब्रोसो (Lombroso) और उसके मतावलम्बियों का कहना है कि अपराधी तथा विशेष-कर आदी (Habitual) अपराधी सामान्य व्यक्तियों से भिन्न होता है; अपराधी जन्मजात गुणों के कारण होता है जिनका प्रभाव उसके शरीर पर भी पड़ता है और उसके शरीर की विशेष बनावट से यह जाना जा सकता है कि वह अपराधी व्यक्ति है, अथवा सदाचारी है। समाज-शास्त्रियों का कहना है कि अपराधी

जन्मजात नहीं होते हैं वरन् इसी समाज में बनते हैं। जब कोई सामान्य व्यक्ति सामाजिक एवं आर्थिक कठिनाइयों के कारण समाज के साथ अपना सामंजस्य (Adjustment) नहीं स्थापित कर पाता है; तब वह समाज-विरोधी कार्य करने लगता है। कुछ मनोवैज्ञानिक बुद्धि और विवेक के अभाव को अपराध का प्रधान कारण समझते हैं और उनका कहना है कि जेल जाने वालों में मन्द-बुद्धि वालों की संख्या पर्याप्त होती है। मनोविश्लेषणवादी संवेगों तथा भावनाओं के दमन को अपराध का कारण बताते हैं। उनका कहना है कि अचेतन मन में पड़ी हुई अतृप्तियां (Frustrations) तथा भावना-ग्रन्थियाँ (Complexes) मनुष्य को समाज-विरोधी कार्य करने के लिये विवश कर देती हैं। 'विक्षिप्त व्यवहार' के अध्याय में इस विषय का विशद वर्णन हो चुका है। मरसियर (Mercier) ने एक बहुत ही सन्तुलित मत प्रतिपादित किया है। उसका कहना है कि अपराध का कारण व्यक्ति का व्यक्तित्व तथा वातावरण दोनों हैं। एक के भी कमजोर होने से दूसरे का दूषित प्रभाव अधिक तीव्रता से पड़ता है; जैसे यदि व्यक्ति मन्द बुद्धि का हुआ तो बुरे वातावरण का अधिक शीघ्रता से प्रभाव पड़ेगा। यदि व्यक्ति सदाचारी है, तो दूषित वातावरण का प्रभाव पड़ने में कुछ समय लगेगा।

अपराध के कारणों का वर्गीकरण:—यद्यपि अपराध के कारणों पर बहुत ही मतभेद है तथा उसकी गवेषणा बराबर

हो रही है। फिर भी अपराध की उचित व्याख्या के लिये निम्न वर्गीकरण को अनेक अपराध-शास्त्री स्वीकार करते हैं:—

(१) आन्तरिक कारण (Intrinsic Causes)

(क) परम्परागत अवतरण (Hereditary transference)

(ख) शारीरिक दशा (Physical conditions)

(ग) मानसिक दशा (Mental conditions)

[१] बौद्धिक दशा (Intellectual conditions)

[२] संवेग तथा भावना-ग्रंथियां
(Emotion & complexes)

[३] चरित्र-गठन (Character formation)

२—वाह्य अथवा वातावरण-गत कारण
(Extrinsic or Environmental Causes)

(क) घर का वातावरण (Environment within home)

[१] परिवार की सामाजिक स्थिति
(Social status of family)

[२] कुटुम्ब की आर्थिक स्थिति
(Economic Status of family)

[३] कुटुम्ब के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्ध
(Family relationship)

[४] कुटुम्ब की चारित्रिक स्थिति और उसका दूषित प्रभाव (Vicious Home)

[५] पारिवारिक सम्बन्ध का नितांत अभाव (Absence of family ties)

(ख) घर के बाहर का वातावरण (Environment outside home)

[१] पड़ोस (Neighbourhood)

[२] घनी जनसंख्या (Thick population)

[३] व्यवसाय का प्रकार (Nature of Employment)

[४] अवकाश का उपयोग (Use of leisure)

[५] भौगोलिक कारण (Geographical factors)

[६] देश का सामान्य सामाजिक तथा सास्कृतिक स्तर

[७] देश की संकट-पूर्ण स्थिति

सर्व प्रथम अपराध के कारणों के दो मुख्य भाग किए जा सकते हैं। एक को आन्तरिक कारण कहेंगे, क्योंकि वे अपराधी के व्यक्तिगत शारीरिक तथा मानसिक गठन एवं विकास से विशेषतया संबन्ध रखते हैं। व्यक्तित्व के विकास में जो कमी रह जाती हैं अथवा जो विकार उत्पन्न हो जाता है वह व्यक्ति को अपराध का शिकार बनाने में पृष्ठ-भूमि (Predisposition) का कार्य करता है। जिस व्यक्ति का सुदृढ़ तथा आदर्श व्यक्तित्व है, वह उतनी ही कठिनता से अपराध का शिकार बनता है। दूसरी प्रकार के कारणों में

वाह्य परिस्थिति तथा वातावरण आ जाते हैं। व्यक्ति किसी न किसी वातावरण में रहता है, उसके घर तथा घरके बाहर का अच्छा तथा दूषित वातावरण उसके कार्यों को प्रभावित करता रहता है। अब दोनों प्रकार के कारणों के जो उपभेद हैं, उनकी संक्षिप्त व्याख्या नीचे दी जा रही है:—

(१) आन्तरिक कारण

(क) परम्परागत अवतरण—कुछ अपराध-शास्त्रियों का कहना है कि मनुष्यों को अपराध परम्परा के द्वारा प्राप्त होते हैं। जिन लोगों के माता पिता अथवा पूर्वज अपराधी रह चुके हैं, वे बीज-कोष के द्वारा अपराध को परम्परा से प्राप्त करते हैं। लोम्ब्रोसो का तो यहां तक कहना था कि अपराध की परम्परा शरीर की बनावट तक पर प्रभाव डालती है। उसने अपराधियों के शरीर की गठन का विशद वर्णन किया है। परन्तु अब अपराध के परम्परागत अवतरण का सिद्धान्त बिल्कुल अमान्य है। अपराध को व्यक्ति का एक अर्जित गुण (Aquired trait) माना जाता है न कि परम्परा-गत गुण (Hereditary trait)। अतः अपराध को मनुष्य अपने जीवन में प्राप्त करता है। परम्परागत अवतरण के सिद्धान्त में केवल इतना मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है, कि मनुष्य परम्परा से कुछ ऐसी बौद्धिक तथा संवेगात्मक कमजोरियां लाता है, जिससे वह अपने कार्यों पर विशेष नियन्त्रण

रखने में असमर्थ रहता है और दूषित प्रलोभनों का शिकार होकर अपराध कर बैठता है।

(ख) शारीरिक दशा (Physical Conditions):—शारीरिक विकार दो कारणों से आते हैं एक बीमारी के कारण और दूसरे पूर्ण विकास की प्रारम्भ से ही क्षमता न होने के कारण। शारीरिक विकार में बौना होना, लगड़ा होना, काना होना, तथा कमजोर गठन का होना इत्यादि सभी विकार आ जाते हैं। इन विकारों के कारण व्यक्ति दूसरों के द्वारा प्रायः अपमानित होता है अथवा लोग उसकी हँसी उड़ाते हैं। इस शारीरिक हीन दशा से मनुष्य क्षुब्ध होकर समाज को घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। ऐसा व्यक्ति प्रायः दीर्घ-सूत्री तथा षड्यन्त्री हो जाता है; उसमें भेद रखने तथा द्विमुखी व्यवहार करने की मनोवृत्ति पैदा हो जाती है। ऐसा सम्भव है कि वह अपने अपमान का बदला चुकाने के लिये पहले साधारण अपराध करता है और बाद में बड़े बड़े अपराधों एवं षड्यन्त्रों का विधायक बन जाता है।

(ग) मानसिक दशा (Mental conditions)

बौद्धिक दशा—सब व्यक्तियों की बुद्धि एक समान नहीं होती है। कुछ व्यक्ति मन्द बुद्धि के होते हैं, उनमें इतना विवेक नहीं होता है कि अच्छे बुरे की उचित पहचान कर सकें।

अपराध के बुरे फल की भी सम्भावना उन्हें क्षुब्ध नहीं करती हैं; अतः वे बेखटके अपराध कर डालते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिये कि सब मन्द बुद्धि के व्यक्ति अपराधी बन जाते हैं। उपरोक्त कथन से केवल इतना ही अभिप्राय है, कि मन्द बुद्धि के व्यक्ति आसानी से अपराधियों के चंगुल में आ जाते हैं, अथवा स्वयं अपराध का शिकार आसानी से बन जाते हैं। जिस प्रकार मन्द बुद्धि अपराध की ओर झुकाव का कारण बन सकती है, उसी प्रकार कुशाग्र बुद्धि भी जटिल अपराधों के पीछे सहयोगी कारण बनती हैं। मन्द या कुशाग्र बुद्धि अपराध का सीधा कारण नहीं है, वरन् सहयोगी कारण ही है।

संवेगात्मक दशा—मनुष्य प्रायः संवेग की दशा में आकर ही विवेक खो बैठता है। वह आगा पीछा न सोचकर कार्य कर बैठता है। मूल प्रवृत्ति यों तथा संवेग के अध्याय में इस विषय की विशद् व्याख्या हो चुकी है कि किस प्रकार हमारे संवेग अपराध का कारण बनते हैं। अतः यहाँ पर पुनरावृत्ति करना आवश्यक नहीं जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त संवेगों की दृष्टि से कुछ व्यक्ति आशावादी; निराशावादी; अन्तर्मुखी तथा वहिर्मुखी होते हैं। अपने स्वभाव (Temperament) के अनुसार ही वे अपराध करते हैं, जैसे अन्तर्मुखी व्यक्ति आत्म-हत्या या षड्यन्त्र जैसे

अपराध करता है और वहिर्मुखी व्यक्ति अपने नेतृत्व में अनेक व्यक्तियों को साथ लेकर फौजदारी अथवा विद्रोह जैसे अपराध की ओर अधिक झुकता है। संवेग का विकार भी अपराध का सहयोगी कारण ही है।

भावना–ग्रन्थियाँ (Complexes):—अचेतन मन में पड़ी हुई अतृप्त इच्छाओं के कारण मनुष्य के अचेतन मन में कुछ भावना-ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं, जो अधिक शक्तिशाली हो जाने पर मनुष्य के व्ययहार को विक्षिप्त अथवा असामान्य (Abnormal) बना देती है। इन भावना-ग्रन्थियों के कारण ही अनेक मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे मनोदौर्बल्य (Psychoneuroses) और मनोविक्षेप (Psychoses)। ये मानसिक रोग तथा भावना-ग्रंथियां किस प्रकार अपराध का कारण बनती हैं, इसकी व्याख्या ग्यारहवें अध्याय में विक्षिप्त व्यवहार के संवन्ध में हो चुकी है; यहाँ पर उसकी आवृत्ति नहीं की जा रही है।

चरित्र–गठन—यदि हमारे चरित्र का गठन ठीक प्रकार से न हुआ और हमारे अन्दर आत्म-सम्मान का स्थायीभाव ठीक ठीक न बन सका, तो हमारी इच्छा-शक्ति (Will) क़मजोर हो जाती है; हमारे व्यक्तित्व के अन्दर आदर्शों का समावेश नहीं हो पाता है। कमजोर इच्छा-शक्ति वाले (Weak-willed) व्यक्ति का व्यवहार प्रायः अधोमुखी हो जाता है।

२—बाह्य तथा वातावरणगत कारण

(क) घर का वातावरण

(१) घर के वातावरण में सर्व प्रथम परिवार की सामाजिक-स्थिति आती है। बहुत से परिवारों को समाज अपराधी-जाति अथवा निम्न जाति की श्रेणी में गिनता है; इस अपमान-जनक सामाजिक स्थिति का प्रभाव पूरे परिवार की मनोवृत्ति पर पड़ता है। जिन परिवार के व्यक्तियों को अकारण ही समाज हेय समझता है, वे अपना आत्म-सम्मान अथवा आत्म गौरव खो बैठते हैं और हेय अथवा हीन कर्म करने में कोई लज्जा अनुभव नहीं करते हैं। यदि अपराधियों के आँकड़े लिये जाँय तो उसमें निम्न जाति के लोग अधिक मिलेंगे।

(२) कुटुम्ब की आर्थिक दशा का भी प्रभाव उसके सदस्यों की मनोवृत्ति पर बहुत पड़ता है। गरीबी के कारण अपने अथवा अपने बाल बच्चों के अत्यन्त आवश्यक भरण पोषण को उचित प्रकार न करसकनेके कारण बहुत से व्यक्तिचोरी करना अथवा धोखा देना इत्यादि अपराध करने लगते हैं। कुछ लोग अधिक खर्च करने के कारण कृत्रिम धनाभाव उत्पन्न कर लेते हैं, वे लोग भी धन के अभाव की पूर्ति के लिये जुआ, चोरी, धोखा, डकैती इत्यादि अपराध करने लगते हैं।

(३) कुटुम्ब के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का अनुचित होना भी व्यक्तिकी मनोवृत्तिपर बड़ा गहरा प्रभाव डालता है। जिस बालक

या युवा पुरुष को घर में उचित प्रेम तथा स्नेह नहीं मिलता है, वह उस स्नेह की तलाश दूसरी जगह करता है। परिवार का प्रेम उसे नियन्त्रण में रखता है; उसे घर में एक नैतिकता का स्तर रखना पड़ता है। परन्तु वही प्रेम बाहर एक विस्तृत क्षेत्र पाकर नतिकता के बन्धन को तोड़ देता है। ऐसा व्यक्ति या तो काम प्रवृत्ति से सम्बन्धित अपराध करता है या शराब इत्यादि पीकर अपने दुख को भुलाने की चेष्टा करता है अथवा अपराधियों की संगति में पड़ कर उनको ही अपना हितैषी तथा शुभचिंतक समझता है।

(४) कुटुम्ब का दूषित चारित्रिक स्तर भी कुटुम्ब के सदस्यों पर बहुत बुरा प्रभाव डालता है। जिस कुटुम्ब के व्यक्ति, जुआरी चोर, अथवा डकैत इत्यादि होते हैं, उन घरों के बालक तथा नवयुवक भी अनुकरण के द्वारा उसी प्रकार के अपराध करने लगते हैं। एक अपराधी परिवार का बालक इसलिये अपराधी नहीं बन जाता है कि उसे बीज-कोष (Germ cell) के द्वारा अपराध अपने पिता से प्राप्त होता है, वरन् वह घर के दूषित वातावरण में रहने के कारण अपराध की ओर विशेष रुचि प्राप्त कर लेता है।

(५) जिस प्रकार घर का दूषित प्रभाव व्यक्ति को बुरा बना देता है, उसी प्रकार पारिवारिक नियंत्रण का नितांत अभाव भी व्यक्ति को उच्छृंखल बना देता है। बहुत से देहात के युवक औद्योगिक शहरों में जाकर जीवकोपार्जन करते हैं, वहाँ पर घर

के बड़े बूढ़ों, जाति पाति तथा धर्म के नियंत्रण का अभाव, विशेषतया पारिवारिक सम्बन्ध का अभाव उन्हे निरंकुश बना देता है। वे शहरों में जाकर ऐसे दूषित कार्य करने लगते हैं, जिनको कि वे अपने परिवार में रहकर कभी न करते।

(ख) घर के बाहर का वातावरण

घर के बाहर के वातावरण के अन्तर्गत पड़ोस से लेकर पूरे देश का वातावरण आ जाता है। पड़ोस, मुहल्ले, गाँव, शहर तथा देश में जो कुछ हो रहा है, उससे प्रभावित हुए बिना मनुष्य नहीं बच सकता है। घर के बाहर की परिस्थितियां घर के अन्दर की परिस्थितियों से मिल कर व्यक्ति को प्रभावित करती रहती हैं।

(१) बाहरी परिस्थिति में सबसे अधिक प्रभाव अपने पास पड़ोस का पड़ता है। बहुत से बालक बाल-अपराधी बन जाते हैं, क्योंकि वे एक बहुत ही खराब पड़ोस में रहते हैं। बहुत से प्रौढ़ व्यक्ति भी मुहल्ले या गांव के दूषित प्रभाव से बचने में अपने को असमर्थ पाते हैं। बहुत से गाँवों में अपराधियों की संख्या अधिक पाई जाती है। गांव के अनेक आदमी एक प्रकार का ही अपराध करते हुये पाये जाते हैं जैसे कच्ची शराब इत्यादि बनाना। यह सब पड़ोस के दूषित प्रभाव का ही फल है।

(२) घनी जनसंख्या भी अपराध का कारण हो सकती है। जहाँ घनी आबादी होती है, वहां लोगों के जीवन में प्राइवेसी

नहीं रह जाती है। जब एक मकान में कई कुटुम्ब रहते हैं और उनमें कोई पारिवारिक एवं नैतिक सम्बन्ध नहीं रहता है, तब उनमें कलह एवं काम प्रवृत्ति सम्बन्धी अपराध हो सकते हैं। औद्योगिक शहरों में ऐसी घनी बस्तियाँ अधिक होती हैं; वहां पुरुषों की संख्या स्त्रियों की अपेक्षा अधिक होती है, इसका भी अपराध पर प्रभाव पड़ता है।

(३) व्यवसाय के प्रकार का भी हमारी मनोवृत्ति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। हम जिस व्यवसाय को करते हैं, उसमें हमें किस प्रकार के व्यक्तियों के सम्पर्क में आना पड़ता है, उसमें हमें परिश्रम से पैसा प्राप्त होता है अथवा अवैधानिक ढंग से अतिरिक्त पैसा मिलता है, इन सब बातों का हमारे चरित्र तथा व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। व्यवसाय का अभाव भी हमारे ऊपर प्रभाव डालता है। खाली दिमाग शैतान का घर होता है। उचित प्रकार के शिक्षालयों में शिक्षा न मिलने के कारण बहुत से बालक बाल अपराधी बन जाते हैं। किशोर अवस्था के बालकों तथा प्रौढ़ व्यक्तियों के एक साथ काम करने से भी कुछ अपराधों की सम्भावना हो जाती है।

(४) अवकाश का उचित प्रयोग भी मनुष्य के लिये उतना ही आवश्यक है जितना उचित व्यवसाय का मिलना। बहुत से लोग अपने अवकाश को दूषित मनोरंजनों में बिताते हैं और अपराध की ओर सरलता से अग्रसर हो जाते हैं। जो व्यक्ति

अपने अवकाश को शराब, जुआ इत्यादि घृणित कार्यों में बिताते हैं, वे आवश्यकता पड़ने पर इससे भी अधिक निन्दनीय कार्य कर सकते हैं। एक अवगुण अनेक अवगुणों का वाहक होता है, इसे सभी जानते हैं। बहुत से बालक अपराधी केवल इसीलिये बन जाते हैं कि उनके अवकाश के समय में उनकी कोई निगरानी नहीं की गई और वे कुसंगति में पड़कर उच्छृंखल बन गये हैं।

[५] कुछ भौगोलिक परिस्थितियां भी अपराध का कारण बनती हैं। जहां पर दो देशों की राजनैतिक सीमा मिलती है, वहां पर प्रायः अवैधानिक निर्यात तथा आयात [Smuggling] के अपराध अधिक होते हैं। ऐसे स्थानों पर अपराध सरलता से होते हैं, जहां अपराधियों को अपने कार्य-क्षेत्र से शीघ्र हट जाने अथवा छिप जाने के भौगोलिक या प्राकृतिक साधन उपलब्ध होते हैं। जो स्थान प्राकृतिक सीमा से घिरे होते हैं तथा जहां के निवासी एक दूसरे को भली भांति जानते हैं और कम संख्या में होते हैं, वहां चोरी इत्यादि कम होती है, क्योंकि चोरी के माल को हटाने तथा बेचने के साधन नहीं उपलब्ध रहते हैं। जहां पर मौसमी वर्षा पर ही कृषि की समृद्धि निर्भर है, वहां जिस वर्ष जल-वृष्टि ठीक से नहीं होती है और फसल फेल हो जाती है, अपराधों की संख्या बढ़ जाती है, डाक्टर हैकरवाल ने अपनी पुस्तक 'इकोनामिक एण्ड सोशल-ऐसपेक्ट्स आफ क्राइम इन इंडिया' में कई देशों तथा भारत के आंकड़ों से इस बात को सिद्ध किया है।

[६] देश का सामान्य सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्तर भी अपराध की स्थिति को बहुत कुछ निश्चित करता है। जिस देश में अज्ञानता, निरक्षरता, अंधविश्वास तथा सामाजिक कुरीतियों को फलने फूलने का अवसर मिलता है, वहां बहुत से अपराध उनके सम्बन्ध में हो जाते हैं। शिक्षा का अभाव, बाल-विवाह, विधवा-विवाह का न होना; दहेज-प्रथा तथा अछूत-प्रथा इत्यादि अनेक अपराधों का कारण बनती है, इसके विषय में हम रोज़ अखबारों में पढ़ते हैं। धार्मिक असहिष्णुता के कारण भी कभी भयानक दंगे हो जाते हैं। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान विभाजन के समय कितनी हत्यायें तथा धन-अपहरण इत्यादि के अपराध हुये कि स्मरण मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। धार्मिक अंधविश्वास के कारण ही हमारे यहां पहले सती-प्रथा की निशृंसता अबाध रूप से चल रही थी; पति मर जाने से अबोध विधवा बालिका को उसकी मर्जी के खिलाफ आग में जला देते थे। अब भी कुछ जंगली जातियों में धार्मिक अंधविश्वास के कारण मनुष्य-बलि की प्रथा कायम है।

[७] देश की संकट-पूर्णस्थिति में विशेष कर विश्वव्यापी युद्ध के समय प्रत्येक देश में कुछ व्यक्तिगत अधिकारों को ले लिया जाता है। गल्ले का नियन्त्रण, राशनिंग इत्यादि चालू कर दी जाती हैं। कुछ चीजें जो लड़ाई में काम की हैं अथवा जो बाहर से आती थीं, अत्यन्त मंहगी हो जाती हैं। ऐसी परिस्थिति में बहुत से लोग जो कभी भी अपराध नहीं करते थे, ऐसे अपराध

करने लगते हैं, जैसे निर्धारित मात्रा से अधिक गल्ला या वस्त्र इत्यादि का स्टाक करना; निर्धारित दर से अधिक मूल्य पर वस्तुओं को बेचना। महंगाई अधिक होने के कारण तथा आर्थिक व्यवस्था के असामान्य ढंग से असंतुलित होने के कारण नये नये प्रकार के अपराध भी होने लगते हैं, जो सामान्य दशा में कभी नहीं होते हैं।

अपराधियों के प्रकार (Classification of criminals)—प्रायः अपराधियों के प्रकार का निश्चय कानून की धाराओं की दृष्टि से किया जाता है और उन्ही के अनुसार उन्हें दंडित किया जाता है। परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि-कोण से यह अधिक युक्ति-संगत नही हैं; अतः अपराधियों की मनोवृत्तियों के विचार से ही उनका वर्गीकरण करना चाहिये। उनका निम्न वर्गीकरण उचित जान पड़ता है:—

१—आकस्मिक अपराधी
(Accidental criminal)
२—परिस्थितिगत अपराधी
(Situational criminal)
३—आदी तथा पेशेवर अपराधी
(Habitual & Professional criminals)
४—विक्षिप्त अपराधी
(Abnormal criminal)

५—बाल अपराधी
(Young delinquent)

आकस्मिक अपराधी:—इस श्रेणी में वे सब अपराधी आते हैं, जिनका पहले से अपराध करने का कोई इरादा नहीं था, परन्तु अनजान में उनसे साधारण अथवा भयानक अपराध हो जाता है। इस प्रकार के अपराध का कारण मनुष्य की लापरवाही भी हो सकती है, परन्तु यह लापरवाही वह जानबूझ कर नही करता है, यह केवल उसकी अयोग्यता तथा बुद्धि के अभाव के कारण है। लापरवाही के कारण मनुष्यों द्वारा की गई दुर्घटनायें और अपराध हम प्रति दिन समाचार-पत्रों में पढ़ते रहते हैं।

परिस्थितिगत अपराधी:—इस श्रेणी में वे अपराधी आते हैं, जो कठोर आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के दबाव में आकर अपराध कर बैठते हैं। यह अपराध वे जान बूझकर करते हैं और उसके फल का भी उन्हें ध्यान रहता है। परन्तु एक विशेष बात यह रहती है कि उन्हें अपने इस कार्य के प्रति पश्चात्ताप अवश्य रहता है। इस पश्चात्ताप के कारण ज्योंही उनकी आर्थिक तथा सामाजिक दशा सुधर जाती है, वे अपराध करना छोड़ देते हैं। इस प्रकार के अपराधियों में आत्म-सम्मान की भावना का नितान्त अभाव नहीं रहता है, समाज के आदर्शों के प्रति श्रद्धा तथा कानून की कठोरता का भय भी रहता है। अपराधियों में अधिकतर संख्या इस प्रकार के ही मनुष्यों की

रहती है। इस प्रकार के अपराधियों का सुधार सबसे सरल है।

आदी तथा पेशेवर अपराधी:—इस प्रकार के अपराधियों में कई प्रकार के अपराधी आते हैं। सर्व प्रथम वे अपराधी हैं, जिन्होंने परिस्थति-वश अपराध किया था, एक बार कारावास काटने के पश्चात् जब वे पुनः समाज में आते हैं तो समाज उन्हें नक्कू बनाये रहता है और घृणा की दृष्टि से देखता है। पुलिस उनके अपराध करने या न करने पर संदिग्ध-दृष्टि से देखती है और उन्हें कारावास भेजवाने का प्रयत्न करती रहती है। जेल का अपमानजनक व्यवहार भी उनके अन्दर समाज के प्रति विद्रोह की भावना उत्पन्न करता है। सभ्य समाज के अन्दर ठीक से घुल मिल न सकने के कारण उनके पास केवल एक ही चारा रहता है कि वे अपराधियों की शरण में जांय और अपराधियों के साथ रहने तथा बार बार अपराध करने के कारण वे आदी अपराधी (Habitual offender) बन जाते है। धीरे धीरे पश्चात्ताप की भावना भी खत्म हो जाती है और वे आत्म-सम्मान की भावना को भी खोने लगते हैं। ऐसे अपराधियों को सुधारने में समय लगता है।

इसी श्रेणी में दूसरी प्रकार के वे अपराधी हैं जिनको हम अपराधी-जाति कह कर पुकारते हैं। हमारे भारतवर्ष में जातियों और उप जातियों की कमी नहीं है। जिस प्रकार हमारे यहाँ भिखारियों की जाति है, जिस जाति के छोटे बड़े, स्त्री मर्द, बालक

युवा सभी भीख मांगने का पेशा करते हैं, ठीक उसी प्रकार कुछ ऐसी जातियाँ भी हैं, जिन्होंने अपराध करने का पेशा कर रक्खा है। इन जातियों के पूरे परिवार के परिवार इसी प्रकार के कार्य से अपनी जीविका चलाते हैं। इन जातियों के अपराध के प्रकार तथा अपराध करने के तरीके भी अलग होते हैं। वे पुलिस के चंगुल में भी आसानी से नहीं आते हैं। हमारी यू० पी० सरकार का इन जातियों के सुधारने की ओर विशेष ध्यान गया है और उनकी नई वस्तियां वनाने की योजना बना रही है, जिनमें उन्हें ईमानदारी से जीविका कमाने की ट्रेनिंग तथा प्रोत्साहन देगी। ब्रिटिश सरकार के जमाने में जो इनके ऊपर "अपराधी जाति एक्ट" के अनुसार विशेष पावन्दियां थीं अब वे हटा दी गयी हैं, जिससे उनमें आत्म-सम्मान की जागृति हो जाय और वे अधिक सम्मान-पूर्वक जीवन बिताने का प्रयत्न करने लगें।

इस श्रेणी में तीसरे प्रकार के वे अपराधी हैं, जिनको न तो विशेष परिस्थियां मजबूर करती हैं कि वे अपराधी बनें और न वे अपराधी जाति के सदस्य हैं। इस श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं, जो नेता बनना चाहते हैं; परन्तु सभ्य समाज के नेतृत्व की उनमें योग्यता नहीं है, अतः वे डाकुओं इत्यादि का एक गिरोह बनाकर उसके नेता बन जाते हैं। इस प्रकार के अपराधी पुलिस के लिये विशेष दर्द-दर्द पैदा करते है। वे चालाकी तथा बल से पुलिस से मुठभेड़ लेते हैं और आसानी से उसके चंगुल में नहीं आते हैं।

सुल्ताना और मानसिंह इत्यादि इसी श्रेणी के अपराधी हैं। इस प्रकार के अपराधी समाज के कट्टर शत्रु हैं, सामाजिक व्यवस्था में उनको पुनः लाना असाध्य है।

इस श्रेणी में चौथी प्रकार के वे अपराधी हैं जो, इतने चतुर हैं कि वे बड़ी आसानी से इमानदारी के साथ जीविका कमा सकते हैं, परन्तु व्यक्तिगत स्वार्थ और अधिक प्रलोभन में आकर अपराधियों को सहयोग प्रदान करते हैं; जैसे लुहार जो अपराधियों के लिये अस्त्र बनाता है अथवा सुनार या सराफ जो चोरी का माल गलाता है अथवा बेचता है।

विक्षिप्त अपराधी—इस श्रेणी में वे सब अपराधी आते हैं जो अपने अचेतन मन में दबी हुई प्रेरणाओं (Impulses in unconscious mind) के कारण अपराध करते हैं। वे अपराध करते हैं, इसकी कभी उन्हें पूर्ण चेतना रहती है और कभी नहीं। वे यह नहीं जानते हैं कि वे अमुक अपराध क्यों करते हैं, उसका कारण वे नहीं बता सकते हैं। वे अपराधी भावना-ग्रन्थियों के कारण होते हैं। मनोदौर्बल्य (Psychoneuroses) तथा मनोविक्षेप (Psychoses) से पीड़ित मानसिक रोगी यदि अपराध करते हैं; तो वे विक्षिप्त अपराधी की श्रेणी में ही आयेंगे। कारावास इत्यादि का प्रभाव इन रोगियों पर उलटा पड़ता है, इनको तो मनोविश्लेषण [Psycho-analysis] तथा मानसिक उपचार [Psycho-therapy] के द्वारा ही सुधारा जा सकता है।

अमेरिका जैसे समृद्ध देश में आर्थिक स्थिति के कारण अपराधी बहुत कम बनते हैं। अपराध का प्रधान कारण प्रायः मानसिक विक्षिप्तता (Mental abnormality) ही होती है। इस प्रकार के अपराधियों को अन्य प्रकार के अपराधियों के साथ कारावास में रखना तथा समान व्यवहार करना प्रायः उनके लिये अनुपयोगी तथा हानिकारक सिद्ध होता है।

बाल-अपराधी—यद्यपि उपरोक्त प्रथम द्वितीय तथा चतुर्थ प्रकार की किसी न किसी श्रेणी में ये बाल अपराधी भी आ जाते हैं, परन्तु ये अपराधी प्रौढ़ अपराधियों (Adult criminals) से मनोवृत्ति में भिन्न होते हैं। यद्यपि बाल अपराधी घातक शरारत से लेकर हत्यायें तक करते हैं, परन्तु उन्हें अपराधी न कहकर निर्माणोन्मुख अपराधी (Criminal in the making) ही कहना अधिक उपयुक्त है। बाल-अपराधी परिपक्व (hardened) अपराधी नहीं है; उसका मन इतना कोमल है कि वह प्रतिकूल परिस्थितियों के दबाव को बरदास्त नहीं कर पाता है और अपराध कर बैठता है। इन अपराधियों को अलग श्रेणी में रखना इसलिये भी आवश्यक है, कि इनका सुधारना आसान है और इनके सुधारने के तरीके भी भिन्न है। इनके कारावासों की कार्य-प्रणाली बहुत कुछ शिक्षा संस्था के समान रखनी पड़ती है।

दण्ड और अपराध

(Punishment and Crime)

शताब्दियों से समाज-शास्त्री इस बात पर विश्वास करते आये हैं कि दण्ड का अपराधी तथा सामान्य जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। दण्ड से अपराधी प्रायः अपराध करना छोड़ देता है और जनता के अन्य सदस्य अपराध की ओर अग्रसर होने से डरते हैं। इसी विश्वास के कारण प्रत्येक अपराध के लिये कुछ न कुछ दण्ड की व्यवस्था की गयी है। हमारे भारतीय दण्ड-विधान में भी प्रत्येक अपराध के लिये उसकी समाज घातकता को ध्यान में रखते हुये भिन्न-भिन्न दण्ड निर्धारित किये गये हैं। दण्ड समाज व्यवस्था को ठीक ढंग से रखने के लिये एक आवश्यक और शक्ति शाली उपाय समझा जाता है।

परन्तु प्रत्येक दण्ड का अपराधी पर क्या प्रभाव पड़ता है यह दो मनोवैज्ञानिक बातों पर निर्भर है:—

(१) दण्ड देने वाले की दृष्टि में दण्ड का स्वरूप।

(२) अपराधी की दृष्टि में दण्ड का स्वरूप।

१—दण्ड देने वाले की दृष्टि में दण्ड का स्वरूप

दण्ड किस उद्देश्य से दिया जाना चाहिये इस पर सदैव मतभेद रहा है, इस कारण दण्ड के विषय में कुछ सिद्धान्तों का जन्म हुआ है। मुख्य दण्ड के सिद्धान्त (Theories of punishment) निम्नलिखित हैं:—

दण्ड के सिद्धान्त (Theories of punishment)

(क) बदले की भावना से दिया गया दण्ड
(Retributive form of punishment)

(ख) निरोध-भावना से दिया गया दण्ड
(Deterrent form of Punishment)

(ग) सुधार-भावना से दिया गया दण्ड
(Reformatory form of punishment)

(i) अपराध-वृत्ति का विलयन
(Inhibition of criminal tendency)

(ii) उचित व्यवसाय-बुद्धि की जागृति
(Creation of proper work-habits)

(iii) सामाजिक तथा आर्थिक पुर्नसंस्थापन
(Socio-Economic readjustment)

(क) बदले की भावना का सिद्धान्त—प्राचीन समय में दण्ड बदले की भावना से दिया जाता था। अपराधी ने यदि किसी अन्य व्यक्ति की एक आंख फोड़ी है, तो उसकी भी एक या दोनों आंखें फोड़ दी जायें। अपराधी को अधिक से अधिक शारीरिक तथा मानसिक कष्ट पहुंचाना ईश्वरीय न्याय समझा जाता था। दण्ड की यह स्थिति तब तक थी, जब तक समाज का सांस्कृतिक स्तर बहुत नीचा था। समाज में ज्यों ज्यों मानवता के प्रति सम्मान का उदय होता जा रहा है, त्यों त्यों हम मानव-शरीर

के प्रति पाशविक व्यवहार की प्रथाओं को छोड़ते जा रहे हैं। जिस प्रकार हमने दास-प्रथा को तिलाञ्जलि दे दी है, उसी प्रकार हम किसी भी अपराधी को बदले की भावना से दण्ड नहीं देना चाहते हैं। दण्ड की इस प्रथा को छोड़ने के दो मुख्य कारण हैं। एक तो प्रत्येक अपराध का बदला अपराधी से ठीक ठीक चुकाया भी नही जा सकता है, जैसे किसी एक अविवाहित युवक ने किसी अन्य व्यक्ति की पत्नी पर हमला कर दिया है, उससे ठीक उसी प्रकार का बदला कैसे ले सकते हैं। दूसरा मुख्य कारण यह है कि किसी बुरे कार्य या अपराध का बदला चुकाने के लिए उसी प्रकार का अपराधी के साथ बुरा व्यवहार करना अथवा एक पाप के बदले में दूसरा पाप करना (to return an evil for an evil) एक बहुत बड़ा सामाजिक पाप (Social evil) है। प्रजातान्त्रिक समाज (Democratic Set of Society) में व्यक्ति के प्रति और भी अधिक सम्मान का भाव रक्खा जाता है, हम किसी भी व्यक्ति के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहते हैं कि वह अपना आत्म-सम्मान खो बैठे और मनुष्य से पशु बन जाय। इसी कारण आज कल बहुत से समाज सुधारक कोड़े लगाना तथा मृत्यु-दण्ड को उचित दण्ड नहीं समझते हैं, क्योंकि इनमें बदले की भावना की गन्ध मालूम पड़ती है। इस प्रकार के दण्ड से उस व्यक्ति को परम सन्तोष प्राप्त होता है; जिसको अपराधी के द्वारा क्षति पहुँची है।

(ख) निरोधात्मक दण्ड का सिद्धान्त—इस सिद्धात के अनुसार दण्ड का उद्देश्य यह है कि एक ओर अपराधी को कष्ट पहुँचा कर उसको अपराध की आवृत्ति करने से रोकें और दूसरी ओर दण्ड के प्रदर्शन से सामान्य जनता को आतंकित करें कि वह दण्ड-भय के कारण अपराध करने का साहस न करे। आज कल बहुत सी सजायें इसी दृष्टि से दी जाती हैं। यदि हम किसी अपराधी को दण्डित करा देते हैं, तो कारावास होने के कारण उसके आत्म-सम्मान तथा स्वच्छन्दता को आघात पहुँचता है और हो सकता है कि वह जेल से निकलने के पश्चात् पुनः अपराध न करे। अपराधी के दण्डित होने से उसके परिवार पड़ोस तथा गांव वाले आतंकित होकर उस प्रकार का अपराध करने की हिम्मत कम करते हैं। आज कल मृत्यु-दण्ड तथा आजन्म कारावास इत्यादि जैसे कठोर दण्ड निरोधात्मक भावना से ही दिये जाते हैं न कि वदले की भावना से। इस प्रकार के कठोर दण्ड एक ओर जनता को दण्डित अपराधी द्वारा पुनः हानि पहुँचाये जाने से बचाते हैं और दूसरी ओर सामान्य जनता को सदाचरण के लिये सावधान करते हैं।

(ग) सुधारात्मक दण्ड—वर्तमान सभ्य समाज में दण्ड का उद्देश्य अपराधी का सुधार समझा जाता है। मानवता के गुणों को अधिक महत्व देने के कारण, हमारा उद्देश्य यह रहता है कि हम अपराधी को भी एक अच्छे उपयोगी नागरिक में

परिवर्तित करलें, न कि उसे असाध्य समझ कर, बदले की भावना से अथवा कष्ट पहुँचाने की दृष्टि से उसे दण्ड देते रहें। अब दण्ड का प्रधान उद्देश्य अपराधी का सुधार है और दण्ड का जो निरोधात्मक प्रभाव सामान्य जनता पर पड़ता है, उसको गौण स्थान दिया जाता है।

दण्ड के द्वारा अपराधी का सुधार तीन प्रकार से किया जाता है:—

(i) **अपराध-वृत्ति के विलयन द्वारा**—सर्व प्रथम हम अपराधी को अपने नियन्त्रण तथा निरीक्षण में लेते हैं। जितने समय तक वह कारावास में रहता है, उसकी अपराधी मनोवृत्ति में रोक पैदा हो जाती है, उतने समय तक वह अपराध करने से बचा रहता है। हो सकता है; कि कारावास काल में अपराध न कर सकने के कारण उसकी अपराध करने की आदत छूट जाय।

(ii) **उचित व्यवसाय-बुद्धि की जागृति द्वारा:**— दण्ड के समय में अपराधी में नियमित जीवन व्यतीत करने की आदत डाली जाती है, उसका एक सुव्यवस्थित दैनिक कार्यक्रम रहता है। कारावास में उसे अच्छे व्यवसाय सिखाये जाते हैं, जैसे खेती करना, बाग लगाना तथा कपड़ा बुनना इत्यादि। इस प्रकार के कार्यक्रम से यह सम्भव है कि अपराधी दण्ड की अवधि समाप्त होने पर अपराध-वृत्ति को छोड़ कर कोई अन्य व्यवसाय करने लग जाय।

(iii) **सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्संस्थापन द्वारा**—अपराधी के सुधारने की यह नवीनतम तथा सर्वोत्तम विधि है। यह प्राय: देखा गया है कि व्यक्ति जब अपनी सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितयों के साथ उचित सामंजस्य तथा संतुलन स्थापित नहीं कर पाता है तो वह विद्रोह भावना से समाज विरोधी कार्य करने लगता है। अतः दण्ड केवल एक सुव्यवस्थित नियन्त्रण के रूप में होना चाहिये, जिससे अपराधी अपने सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के साथ संतुलन स्थापित करलें। इस विधि में यह आवश्यक नहीं है कि अपराधी कारावास में रखा जाय। वह कारावास के बाहर समाज में उचित नियंत्रण तथा संरक्षण में रख कर ठीक किया जा सकता है। प्रथम अपराधियों के सम्बन्ध में प्रोबेशन (Probation) प्रणाली इस सिद्धान्त का एक प्रयोग मात्र है। अपराधी सामाजिक दृष्टि से एक असंतुलित व्यक्ति (A Socially Inadjusted Personality) ही तो है। इसलिये समाज में उसका पुनर्संस्थापन आवश्यक है, न कि एक चहार दीवारी में बन्द कर उसे शारीरिक तथा मानसिक कष्ट देना। अपराधी के अन्दर एक सामूहिक तथा साहयोगिक जीवन व्यतीत करने की आदत डालना आवश्यक है, जिससे उसके व्यक्तिगत स्वार्थ समाज के स्वार्थों के साथ संघर्ष न लें।

२—अपराधी की दृष्टि में दण्ड का स्वरूप

ऊपर इस बात का उल्लेख किया गया है कि अपराधी को दण्ड देने के समय दण्ड देने वाले की कैसी मनोदशा होनी चाहिये। दण्ड देने वाला अपराधी का चाहे जितना शुभचिन्तक हो, अपने नियन्त्रण में रखकर वह चाहे जितना प्रयत्न अपराधी को सुधारने का कर रहा हो, परन्तु जब तक अपराधी दण्ड को प्रसन्नता पूर्वक उस रूप में स्वीकार नहीं करता है, तब तक अपराधी का पर्याप्त सुधार नहीं हो सकता है। यदि अपराधी सुधार के लिये किये गये नियन्त्रण या कारावास को यह समझता है; कि सरकार ने उसे पीड़ित करने के लिये कारावास में ठूस दिया है, तो वह कारावास में रहकर कुछ नहीं सीख सकता है। उसके अन्दर शासक-वर्ग के प्रति एक विद्रोह की आग सुलगा करती है कि कारागृह उसके लिये एक यातना-गृह के रूप में रहता है और वह सदा इस सम्बन्ध में काल्पनिक स्कीमें बनाया करता है कि अब कारावास से छूटने के पश्चात् इस प्रकार अपराध करूंगा कि पुलिस मेरी हवा तक नहीं पायेगी। यही कारण है कि कारागृह प्रायः कच्चे अपराधी को सुदृढ़ अपराधी बनाकर निकालते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि हम क्या करें कि अपराधी दण्ड तथा नियन्त्रण को उसी रूप में समझे जिस रूप में हम उसको उस पर प्रयुक्त कर रहे हैं। यदि हम कारावास के नियन्त्रण को अपराधी

के सुधारने के लिये किये हुये हैं, तो वह भी इसको इसी रूप में समझे। इस समस्या के महत्व को ध्यान में रख कर ही जेल में अनेक सुधारों की व्यवस्था की गई है और की जा रही है। अपराधियों के प्रति नृशंसता तथा क्रूरता के व्यवहार की भर्त्सना की जाती है। इस बात पर जोर दिया जा रहा है कि उसके साथ मनुष्यों के समान व्यवहार किया जाय न कि पशुओं के समान। एक अपराधी के साथ उसी प्रकार का सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार करने की आवश्यकता है जिस प्रकार का एक अस्वस्थ तथा रोगी व्यक्ति के साथ। अपराधी सामाजिक दृष्टि से एक रोगी ही तो है। अपराधियों को जेल में अधिक स्वच्छंदता प्रदान की जाती है। ऐसे व्यवहार का निषेध किया जाता है, जिससे अपराधी के आत्म-सम्मान को धक्का पहुँचे। आत्म-गौरव के नष्ट होने से व्यक्ति निर्लज्ज होकर अत्यन्त घातक अपराध कर सकता है। यदि हम अपराधी के साथ सद्व्यवहार करेंगे तो वह अधिक विश्वास-पात्र बनने की कोशिश करेगा और अपने चरित्र को अधिक तन्मयता के साथ सुधारेगा। अभी हाल में कैदियों ने बिना किसी दीवाल की जेल में रह कर चन्द्रप्रभा बाँध को प्रसन्नता पूर्वक बनाया है। कुछ लोगों का विचार है कि यदि अपराधी के साथ सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार किया जायगा तो वह पुनः अपराध करके जेल आना पसंद करेगा, परन्तु यह विचार भ्रामक है और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से युक्ति-संगत नहीं है।

अतः कारावास में अपराधी से जो भी कार्य कराया जाता है, उसमें उसका केवल शारीरिक सहयोग ही नही आवश्यक है वरन् मानसिक दृष्टि से भी उसका सहयोग प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। कारावास के प्रबन्धक अपराधी के तन मन दोनों के सहयोग प्राप्त करने पर ही, उसकी मनोवृत्ति में स्थायी परिवर्तन कर सकते हैं। उपयोगी नागरिक तथा अपराधी में अन्तर केवल मनोवृत्ति (Attitude) का ही तो है, जो वे समाज के प्रति रखते हैं।

अपराध की समस्या

प्रत्येक सभ्य देश में समाज-शास्त्रियों तथा अपराध-शास्त्रियों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है, कि किस प्रकार अपराध-वृत्ति से समाज को मुक्त किया जाय। परन्तु कोई भी देश चाहे जितना समुन्नत क्यों न हो अभी तक अपराध का पूर्ण उन्मूलन नहीं कर सका है। इसका कारण यह है कि कोई भी देश उन कारणों के दूर करने में पूर्णतया सफल नहीं हुआ है, जिन से अपराध पैदा होता है। हां, अपराध में कमी करने के संबंध में अनेक प्रयत्न पर्याप्त मात्रा में सफल हुये हैं, यहाँ पर उन्हीं की संक्षिप्त व्याख्या की जा रही है। अपराध-वृत्ति को कम करने के तीन मुख्य उपाय हैं:—

१—अपराध की उत्पत्ति को रोकना

(क) आदर्शोन्मुख समाज के निर्माण के द्वारा

(ख) पुलिस की सतर्कता के द्वारा

२—अपराध का सफल अनुसंधान

३—अपराधियों का उचित उपचार

(क) दण्डावधि में अपराधी का उपचार

(ख) दण्डावधि के पश्चात् अपराधी का पुनर्संस्थापन अथवा देख रेख

१—अपराध की उत्पत्ति को रोकना

समाज की सर्वोत्तम स्थिति है कि अपराध होने ही न पावें। यह आदर्शोन्मुख समाज के निर्माण तथा पुलिस फोर्स की कार्य कुशलता पर निर्भर है।

[क] आदर्शोन्मुख समाज के निर्माण के द्वारा—

समाज तीन प्रकार का होता है, दूषित समाज (Negative Society), सामान्य समाज (Average Society), तथा आदर्श समाज (Ideal Society)। दूषित समाज में स्वार्थपरता तथा अपराध की ही मात्रा अधिक रहती है, सामान्य समाज में अपराध साधारण मात्रा में हुआ करते हैं और आदर्श समाज में अपराध का नितांत अभाव हो जाता है। यद्यपि पूर्ण आदर्श समाज का निर्माण अत्यन्त कठिन है, परन्तु हम सामान्य समाज को आदर्शोन्मुख अवश्य बना सकते हैं। ऐसा करने से अपराध की उत्पत्ति में बहुत कमी आ जाती है। इस प्रकार के समाज के निर्माण में हमें अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं।

सर्वप्रथम सामाजिक असमानताओं को दूर करना पड़ता है। जहां एक वर्ग दूसरे वर्ग के द्वारा असम्मानित किया जाता है, जहाँ एक वर्ग अपने लिये सब अधिकार और दूसरे वर्ग के लिये केवल कर्त्तव्य रख देता है वहां वर्ग-संघर्ष अवश्यम्भावी हैं और ऐसी दशा में एक वर्ग दूसरे के प्रति अपराध अवश्य करेगा। पददलित तथा पिछड़े वर्गों के सामजिक स्तर को उठाना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि अनेक अपराधी सामाजिक-हीनता तथा सामाजिक-असंतुलन (Social Mal-adjustment) का ही परिणाम होते हैं।

आदर्शोन्मुख समाज के निर्माण में आर्थिक स्तर को भी उठाना अत्यन्तावश्यक हैं। जिस देश के लोगों का आर्थिक स्तर बहुत संकीर्ण तथा निम्न होता है, अनेक व्यक्ति भूखे तथा नंगे रहते हैं, वहां की सामान्य जनता का जीवन ऊंचे आदर्शों से प्रभावित होना सम्भव नहीं हो सकता है। यही कारण है कि आज अनेक देश अपने को समृद्ध बनाने का विशेष प्रयत्न कर रहे हैं; बेरोजगारी की समस्या शीघ्र से शीघ्र सुलझाना चाहते हैं। हमारे समाज में ऐसे अनेक भूखें और नंगे मिलेंगे जो जीवन से संघर्ष करते हुये सामाजिक तथा वैधानिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं, परन्तु हम उनकी तनिक भी खबर नहीं लेते हैं। परन्तु ज्यों ही वे कोई अपराध कर बैठते हैं, हम उन्हें भर पेट भोजन देते हैं। हमारी सड़कों पर कितने ही बालक असहाय मारे मारे घूमा करते हैं। उनकी खबरगीरी करने वाला कोई नहीं है।

परन्तु ज्यों ही वे अपराध के शिकार हो जाते हैं, उन्हें ज्वेनाइल जेल में रखकर उनके भोजन, शिक्षा तथा दीक्षा का उत्तम प्रबन्ध करते हैं। आदर्श समाज में ऐसी स्थिति नहीं रहने पाती है। ऐसे समाज में रोग की चिकित्सा की अपेक्षा रोग को उत्पन्न न होने देना ही, अधिक अच्छा समझा जाता है।

आर्थिक स्तर के साथ साथ हमें समाज के सांस्कृतिक स्तर को भी उठाना पड़ता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हम उचित शिक्षा, उचित मनोरंजन तथा उचित धर्माचरण द्वारा प्राप्त करते हैं। जिस देश में अनेक व्यक्ति अशिक्षित हैं, अवकाश का सदुपयोग उचित मनोरंजन द्वारा नहीं होता है और जहां धार्मिक असहिष्णुता को बढ़ावा मिलता है वहाँ अपराध का उद्भव अवश्य होगा।

आदर्शोन्मुख समाज के निर्माण के लिये सामूहिक जीवन (Communitylife) की वृद्धि करना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे समाज में प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर रहना सीख जाता है; अपने उत्तरदायित्व को ठीक ठीक समझने लगता है और व्यक्तिगत स्वार्थों को समाज हित के साथ घुला मिला देता है। ऐसी दशा में व्यक्ति समाज-विरोधी कार्य करने को अग्रसर नहीं होता है और अपने को सदाचारी रखने के लिये अपने ही नियंत्रण का प्रयोग करता है, उसके लिये बाह्य दबाव की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

आदर्शोन्मुख समाज के निर्माण के लिये व्यक्ति, जनतात था सरकार सबको मिलकर प्रयत्न करना पड़ता है।

(ख) पुलिस की सतर्कता के द्वारा— यद्यपि अपराध को रोकने के लिये आदर्शोन्मुख समाज का निर्माण प्रथम आवश्यकता है; परन्तु पुलिस की सतर्कता इस सम्बन्ध में कम प्रभाव नहीं रखती है। जिस देश की पुलिस अच्छी ट्रेनिंग प्राप्त किये रहती हैं और अपने कर्त्तव्यों को संलग्नता से पालन करती है वहां के लोग अपराध करने का कम साहस करते हैं। जिस देश में पुलिस के कर्मचारी व अफसर विलास-प्रिय होते हैं, जनता के दुःख दर्द से पूर्ण सहानुभूति नहीं रखते हैं, वहाँ अपराध की रोकथाम अत्यंत दुर्लभ है। पुलिस फोर्स का पूर्णतया सुदीक्षित व अनुशासित होना तथा लोक सेवा भाव से ओत-प्रोत होना अत्यन्त आवश्यक है। पुलिस की उत्तमता कुछ हद तक पूरे प्रशासन (Adminis-tration) की उत्तमता पर भी निर्भर है, जिसका कि वह एक प्रमुख अंग है। प्रशासन का प्रकार पुलिस के रवैये को निर्धारित करता है।

२ अपराध का अनुसंधान

जिस मात्रा में आदर्श समाज के निर्माण में कमी रह जायगी उसी मात्रा में अपराध भी होंगे। अतः आदर्श समाज के निर्माण के लिये प्रयत्नशील होते हुये भी, जो अपराध हो जाय, उसका सही अनुसंधान अत्यन्त आवश्यक हैं। यदि निरपराध व्यक्ति को अपराधी सिद्ध करके दण्डित करा दिया गया तो अर्थ का अनर्थ हो जाता है। इससे एक तो सामान्य जनता में पुलिस के प्रति घृणा

और अविश्वास उत्पन्न हो जाता है तथा वह पुलिस के पवित्र ध्येय और ईमानदारी के प्रति सन्देह करने लगती है। ऐसी दशा में समाज के शिक्षित तथा सभ्य व्यक्तियों से पुलिस को अनुसंधान कार्य में सहयोग मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। वे प्रायः पुलिस से दूर ही रहना चाहते हैं। निरपराध व्यक्ति के दण्डित होने से दूसरा अनर्थ यह होता है कि वह दंड की अवधि समाप्त होने पर पुलिस से अथवा जनता के उन व्यक्तियों से जिनकी शहादत से उसे कारावास मिला है अपना बदला चुकाने के लिये भरसक प्रयत्न करता है। यदि वह अकेले इस कार्य को करने में असमर्थ होता है, तो वह अपना गिरोह बनाकर बदला चुकाता है। इस प्रकार अनुसंधान कार्य में पुलिस की तनिक असावधानी से अपराध का एक दूषित वातावरण (Vicious circle) बन जाता है। हमारी जरासी असावधानी से कितने निरपराध व्यक्ति दंडित हो जाते हैं।

पुलिस को अपने अनुसंधान कार्य में नये नये वैज्ञानिक साधनों से युक्त होना चाहिये, जिससे अपराधी का अचूक ढंग से पता लग सके।

३—अपराधियों का उपचार

(Treatment of criminals)

अपराध की समस्या के हल करने के दो प्रधान उपायों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसका तीसरा उपाय अपराधियों का उचित

उपचार है। अपराधी को उचित नियंत्रण में रख कर उसके साथ ऐसा व्यवहार किया जाय कि वह एक अच्छा नागरिक बन जाय और अपराध की आवृत्ति पुनः न करें। यदि हम ऐसा न कर सकें तो अपराध की वृद्धि होती जायगी । एक ओर तो नये अपराधी उत्पन्न होंगे और दूसरी ओर पुराने अपराधी अपराध-वृत्ति को अपनाये रहेंगे। अपराधियों के उपचार को हमने दो भागों में बाँट रक्खा है, जिनकी व्याख्या आगे की जायगी ।

(क) दण्डावधि में अपराधी का उपचार—प्रत्येक अपराधी को जिसको कुछ दंड दिया जाता है, उसे एक विशेष नियंत्रण तथा निरीक्षण में रक्खा जाता है, यह निरीक्षण की जगह चाहे कारागृह हो अथवा उससे मिलती जुलती जगह हो कुछ लोग कुछ अपराधियों को विशेष कर प्रथम अपराधियों को प्रोबेशन प्रणाली से समाज में ही एक विशेष नियंत्रण में रखकर उनके द्वारा जीवकोपार्जन करवाना चाहते हैं। दंड की अवधि में एक विशेष निरीक्षण तथा नियन्त्रण में रखने का उद्देश्य अपराधी का यथासम्भव सुधार है, चाहे वह कारागृह में रक्खा जाय अथवा सुधारगृह में। इस सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं:—

प्रत्येक अपराधी के सुधार की समस्या को एक व्यक्तिगत समस्या के रूप में लेना चाहिए। प्रत्येक अपराधी को सुधारने के लिए एकसी दंडावधि तथा बर्ताव उसी प्रकार उचित नहीं है, जिस प्रकार प्रत्येक रोगी को न तो अस्पताल में समान अवधि तक रखते हैं और न सब के लिये समान चिकित्सा की जाती है।

प्रत्येक अपराधी के सुधार के लिए उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है।

भिन्न भिन्न वर्ग के अपराधियों को अलग अलग रखना अत्यन्त श्रेयस्कर होगा। प्रथम अथवा आकस्मिक अपराधी को यदि आदी अपराधी के साथ रक्खा जायगा तो दूषित प्रभाव पड़ने की आशंका है। इसी प्रकार बाल अपराधियों के सुधार की समस्या प्रौढ़ अपराधियों से भिन्न है; ज्वेनाइल जेल को बहुत कुछ स्कूल और जेल के बीच की स्थिति में रखना पड़ता है। मानसिक रोगी अथवा विक्षिप्त अपराधी के जेल की स्थिति जेल और अस्पताल के बीच की है, उसका उपचार एक मनोविश्लेषक (Psychiatrist) के द्वारा होता है; इनके उपचार में बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है, इस सम्बन्ध में विशद वर्णन ग्यारहवें अध्याय में हो चुका है।

अनेक अपराधी सामाजिक कुरीतियों तथा आर्थिक कठिनाइयों का शिकार होकर अपराधी बनते हैं। अतः अपराधियों के साथ सहानुभूति-पूर्ण बर्ताव करना आवश्यक होता है। जेल के प्रबंधक वर्ग का व्यवहार समाज के शोषक वर्ग के व्यवहार से अच्छा प्रतीत होना चाहिए। इस प्रकार के व्यवहार से जिन अपराधियों में अच्छी प्रतिक्रिया हो, समझ लेना चाहिए कि वे शीघ्र सुधर जायेंगे। ऐसे अपराधियों को जेल में सम्मान-पूर्ण पद दे सकते हैं अथवा विशेष सदाचरण दिखाने पर उन्हें पैरोल (Parol) इत्यादि पर छोड़ सकते हैं। ऐसे अपराधियों को दंडावधि के

समय में भी जेल की चहार दीवारी के बाहर रखकर देश-निर्माण के कार्यों के करने अथवा सामूहिक योजनाओं की पूर्ति में लगा सकतें हैं। सहानुभूतिपूर्ण बर्ताव से अपराधी को अच्छे नागरिक में बदलने का कार्य सरल हो जाता है।

आदी अपराधियों में समुचित कार्य करने की आदत (Suitable work-habits) डालना अत्यन्त आवश्यक है। उनके कार्य तथा व्यवहार का निरीक्षण बड़ी दृढ़ता के साथ करना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर इनमें से अत्यन्त हठी अपराधी के साथ निरोधात्मक (Deterrent) कार्यवाही करने में भी कोई हर्ज नहीं है। उसे कारावास काल में यह अवश्य अनुभव होना चाहिये कि एक अच्छे नागरिक के समान जीवन व्यतीत करना, अपराधी के रूप में कारावास में रहने से कहीं अच्छा है। ऐसे अपराधियों को तब तक कारावास में रखना चाहिये जब तक उनमें अच्छी आदतों का निर्माण न हो जाय।

असाध्य (Incorrigible)अपराधी के नृशंस तथा घातक व्यवहार से सामान्य जनता को बचाना अत्यन्त आवश्यक है। अतः उसे आजन्म कारावास अथवा मृत्यु-दंड देने में कोई हर्ज नही है। जिस अपराधी ने अनेक घरों की कौड़ी कौड़ी साफ करदी है अनेकों को मौत के घाट उतार दिया है और अनेकों बालकों को अनाथ और स्त्रियों को असहाय कर दिया है, उसे पुनः समाज में छोड़कर उसके व्यवहार की जाँच (Trial) करना

श्रेयस्कर नहीं है। यद्यपि सिद्धान्ततः हम सुधारात्मक ढंग को ही ठीक समझते हैं, परन्तु ऐसे असाध्य अपराधी को निरोधात्मक दंड देना ही वांछनीय है।

(ख) दण्डावधि के पश्चात् मुक्त-अपराधी की देखरेखः- (After-care of discharged criminals):—दंड प्राप्ति के पश्चात अपराधी जब पुनः समाज में प्रवेश करता है, तब उसकी देखरेख तथा परवाह उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार एक कठिनरोग से पीड़ित रोगी के अस्पताल से मुक्त होने पर भी उसकी विशेष परिचर्या करनी पड़ती है, जिससे वह पुराने रोग का पुनः शिकार न हो जाय। हमारी पुलिस मुक्त अपराधियों की निगरानी तथा हिस्ट्रीशीट खोलकर उनपर विशेष नियन्त्रण रखती है; परन्तु इतना पर्याप्त नहीं है। इस कार्य के लिये मुक्त-अपराधी-देखरेख-समितियाँ (Discharged crimals' after-care societies) बनानी चाहिये। मुक्त अपराधी व्यक्तियों के व्यवहार के आंकड़े रखने चाहिये। समाज में उनके लिए उचित व्यवसाय ढूंढ़कर उनका पुनर्संस्थापन कराना चाहिये। दन्डित व्यक्ति की समाज विशेष अवहेलना करती है, उसे जनता से उचित है सम्मान प्राप्त नहीं होता है। ऐसी अपमान जनक स्थिति में यदि उसे उपयोगी व्यवसाय भी न मिल सका तो उसके लिये जीवन निर्वाह के लिये केवल यही चारा रह जाता है कि वह अपराधियों के समाज को अपना समाज बनाए और अपराध-वृत्ति के द्वारा अपनी जीविका कमाए।

दंड की अवधि में जेल में किया गया उपचार अनेक अपराधियों के लिये पर्याप्त सिद्ध नहीं होता है; अतः कारावास के पश्चात् उनका पुनर्संस्थापन उनके सुधार-शृंखला की अन्तिम परन्तु अत्यन्त आवश्यक कड़ी है।

प्रश्न

१—अपराध किसे कहते हैं। अपराध के स्वरूप का देश की स्थिति से क्या सम्वन्ध है? अपराधों का सर्वमान्य वर्गीकरण कीजिए।

२—अपराध के कारणों पर संक्षिप्त प्रकाश डालिये।

३—अपराध की उत्पत्ति में आन्तरिक तथा वाह्य कारणों के महत्व की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।

४—अपराधियों के मुख्य प्रकार कौन कौन से हैं, उनकी मनोवृत्तियों में क्या अन्तर होता है।

५—अपराधियों को दंड किस कारण दिया जाता है, इस संबन्ध में जो मुख्य सिद्धान्त हैं उनकी व्याख्या कीजिए। आप अपने राज्य की अपराध स्थिति को देखते हुये प्रायः किस प्रकार का दंड अपराधियों के लिए उचित समझते हैं, तर्क सहित अपना मत प्रकट कीजिए।

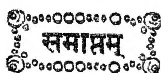
६—अपराध के कम करने के कौन कौन से साधन हैं। उनकी विवेचना कीजिए।

७—अपराधी जन्मना नहीं होता है वरन् बनाया जाता हैं इस कथन पर अपना मत प्रकट कीजिए।

८—अपराधियों के उपचार में किन बातों को ध्यान में रखना चाहिए ?

९—बाल-अपराधी के उपचार की समस्या किस अर्थ में प्रौढ़ अपराधी से भिन्न है, आप बाल-अपराधी का उपचार किस प्रकार करेंगे।

१०—किसी व्यक्ति को अपराध करने से बचाने के लिये किन किन आन्तरिक तथा बाह्य नियन्त्रणों की आवश्यकता पड़ती है।



ऊषा प्रकाशन पुस्तकालय
ने
मुरादाबाद प्रिंटिंग वर्क्स, मुरादाबाद
में छपवाया।

Printed by
USHA PRAKASHAN PUSTAKALAYA
by the order of
The Principal,
Police Training College, Moradabad.



Moradabad Printing Works, Moradabad.